कृष्णदास संस्कृत सीरीज १५

श्रीसदानन्दप्रणीतः

वेदान्तसारः

'सारबोधिनी' 'विमला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः

डा० गजाननशास्त्री मुसलगांवकर

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ, वि० सं० २०५३
मूल्य
K. D. Academy
Rs. 35

© कृष्णदास अकादमी

पो० बा० १११८
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी--२२१००१
(भारत)
फोन : ३३४०३२

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन { आफिस : ३३३४५८
आवास : ३३४०३२

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

15

VEDĀNTASĀRA

OF

SRI SADANANDA

Edited With

'Sarabodhini–Vimala' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Dr. Gajanan Shastri Musalgaonkar

M. A, Ph. D.

Vedanta-Mimansa-Sahityacharya-Sahityaratna.

Head of the Department of Mimansa & Dharmashastra

Faculty of Oriental Learning & Theology, B. H. U.

Krishnadas Academy

VARANASI–221001

1996

© KRISHNADAS Academy

Oriental Publishers & Distributors

POST BOX No. 1118

K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi–221001

(INDIA)

☎ 334032

Fourth Edition

1996

Also can be had from

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 1008, Varanasi--221001 (U. P.) INDIA

Phone : Office : 333458
Res. : 334032

विषयानुक्रमणिका

विषयः		पृष्ठाङ्कः
मंगलाचरणम्	...	१
गुरुवन्दनम्	...	३
उपनिषदामेव वेदान्तसंज्ञा	...	४
अनुबन्धचतुष्टयम्	...	४
अधिकारिवर्णनम्	...	७
काम्यादिकर्मस्वरूपाणि	...	९
कर्मफलानि	...	११
साधनचतुष्टयम्	...	१३
शिष्यस्य गुरोश्च कर्तव्यप्रदर्शनम्	...	२५
अध्यारोपः	...	२८
समष्टि-व्यष्टिरूपेण अज्ञानस्य भेदद्वयम्	...	३३
ईश्वर-प्राज्ञयोः स्वात्मानन्दानुभवः	...	४४
अनुपहितं तुरीयं चैतन्यम्	...	४८
अज्ञानस्य आवरण-विक्षेपशक्तिद्वयो	...	५१
प्रपञ्चस्य निमित्तकारणमुपादानकारणञ्चात्मैव	...	५५
सृष्टिक्रमः	...	६०
सप्तदशावयवात्मकं लिङ्गशरीरम्	...	६४
सूक्ष्मप्रपञ्चनिरूपणम्	...	७८
पञ्चीकरणप्रकारः	...	८२
स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः	...	८७
स्थूलप्रपञ्चनिरूपणम्	...	८८
महाप्रपञ्चनिरूपणम्	...	९२
पुत्रादीनामात्मत्वसाधनम्	...	९७

पुत्रादीनामनात्मत्वप्रतिपादनम् ... १०७
अपवादः ... ११३
तत्-त्वम्पदार्थशोधनम् ... ११७
महावाक्यार्थः ... १२१
विशेषण-विशेष्यभावनिरूपण ... १३०
जहल्लक्षणानिरूपणम् ... १३४
अजहल्लक्षणा-निरूपणम् ... १३८
जहदजहल्लक्षणानिरूपणम् ... १४२
अनुभववाक्यार्थः ... १४४
वृत्तिव्याप्तिस्वीकारेण श्रुत्योरविरोधनिरूपणम् ... १४९
साक्षात्कारोपयोगिनां श्रवणादीनां निरूपणम् ... १५५
समाधिसाधनानां निरूपणम् ... १६७
विघ्नचतुष्टय-निरूपणम् ... १६९
निर्विकल्पकसमाध्यवस्थानिरूपणम् ... १७६
जीवन्मुक्तलक्षणम् ... १७५
जीवन्मुक्तस्य कर्मफलबन्धो नास्तीति निरूपणम् ... १७८
जीवन्मुक्तस्य शुभकर्माचरणमेवेति निरूपणम् ... १८२
अमानित्वादिगुणानामलङ्कारत्वनिरूपणम् १८५
उपसंहारः ... १८७

कृतज्ञता-प्रकाशन

आज की विषम परिस्थिति में संस्कृत के ग्रन्थों को विशेषतः दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना बहुत कठिन हो गया है। जनसाधारण को इस ओर अभिरुचि कराना संस्कृतानुरागियों का सामयिक कर्तव्य है। संस्कृत के ग्रन्थों एवं दार्शनिक ग्रन्थों को लोकभाषा के द्वारा बोधगम्य बनाना चाहिये। संस्कृत भाषा का ज्ञान न हो.. से उसमें निहित रत्नों की प्राप्ति से आज हमारा बन्धुवर्ग वञ्चित हो रहा है। अत एव उदीयमान 'कृष्णदास अकादमी' के संस्थापक अपने देशी-विदेशी बन्धुवर्ग को समानदृष्टि से लाभ पहुँचाने के हेतु वीणापाणि शारदा के समाराधनार्थ संस्कृत के सभी प्रकार के ग्रन्थों को प्रकाशित करने में अहर्निश तत्पर रहते हैं। गोलोकवासी कृष्णदास जी गुप्त के आत्मज श्री बिट्ठलदास तथा श्री बृजमोहनदास उभय बन्धुओं के सस्नेह अनुरोध से सारबोधिनी तथा विमला नाम की दो व्याख्याओं के संस्करणात्मक केशरी-चन्दन से अनुलिप्त श्री सदानन्दयोगीन्द्र-प्रणीत वेदान्तसार का संस्करणात्मक यह एक नवीन पुष्प जनताजनार्दन को अर्पित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

व्याख्या लिखते समय अनेक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती रहीं, किन्तु प्रातः-स्मरणीय आराध्य गुरुचरणों (श्री ६ पण्डितराज राजेश्वरशास्त्री द्राविड़ तथा श्री ६ महामहोपाध्याय सदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर) के निरन्तर ध्यान करने मात्र से ही वे सब विघ्नबाधायें बराबर दूर होती गईं और व्याख्या लेखन-कार्य समाप्त हो पाया।

व्याख्या के द्वारा मूलग्रन्थ को सुबोध बनाने हेतु आजतक प्रकाशित जितने संस्करण उपलब्ध हो सके उन सभी संस्करणों से मुझे यथेष्ठ सहायता प्राप्त हुई। तदर्थ मैं अपने पूर्ववर्ती सभी व्याख्याकारों का आभारी हूँ।

लेखन कार्य समाप्त होने पर भी अग्रिम मुद्रण कार्य के लिए अपेक्षित प्रेस-कापी, प्रूफसंशोधन आदि कार्यों में मेरी कन्या कु० मीना मुसलगाँवकर एम. ए., तथा भ्रातुष्पुत्र चि० शेखर मुसलगाँवकर, एम. काम. ने बहुत परिश्रम किया है, तदर्थ दोनों के अभ्युदय की कामना करता हुआ आशीर्वाद दे रहा हूँ।

विद्वद्वशंवदः

गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरः

भूमिका

ध्यायं ध्यायं गुरोः पादौ स्मारं स्मारञ्च तद्वचः ।
व्याख्यां वेदान्तसारस्य कुर्वे वेदान्तचिन्तया ॥

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त—इन षड्दर्शनों में से वेदान्त एक प्रमुख दर्शन है, इसे **उत्तर मीमांसा** भी कहते हैं। ये सभी दर्शन सूत्रात्मक हैं। सूत्रात्मक वेदान्तदर्शन की रचना बादरायणव्यास ने की है। इस सूत्रात्मक वेदान्तदर्शन पर द्वैतदृष्टि से तथा अद्वैतदृष्टि से अनेक व्याख्यायें लिखी गईं। अद्वैत दृष्टि से व्याख्या करने वालों में सर्व प्रमुख व्याख्याकार आचार्य शङ्कर भगवत्पाद हैं। तभी से वेदान्तदर्शन के दो सम्प्रदाय चल पड़े, जो अद्वैतसम्प्रदाय और द्वैतसम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हुए। उनमें से अद्वैतसम्प्रदाय को ही अद्वैत-वेदान्त या शाङ्कर-दर्शन अथवा शाङ्कर-वेदान्त कहा जाने लगा। अध्यात्मशास्त्र के क्षेत्र में इस वेदान्तशास्त्र या वेदान्तदर्शन को समस्त दर्शनों का मुकुटमणि समझा जाता है। आचार्य शंकर-पूर्वकालिक दार्शनिक-प्रवृत्तियों तथा तार्किक-विचारों का इस दर्शन में चरमोत्कर्ष हुआ दृष्टिगोचर होता है।

उपनिषदों में वेदान्त शब्द का प्रयोग श्रुतियों के चरम सिद्धान्त के अर्थ में उपलब्ध होता है। 'वेदान्त' संज्ञा उपनिषदों को ही प्राप्त हुई है। वेदों के ब्रह्मप्रतिपादक अन्तिमभागरूप उपनिषद ही 'वेदान्त' है। उपनिषदों के अर्थ का निर्णय ब्रह्मसूत्रों से किया जाता है। इस कारण ब्रह्मसूत्रों को भी 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है। वेदान्त-प्रतिपादित समस्त सिद्धान्तों का मूलाधार 'उपनिषद्' ही है। वेदों के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपनिषदों में उपलब्ध होने के कारण इन उपनिषदों को ही 'वेदान्त' कहा जाने लगा। उपनिषदों के

गम्भीर अध्ययन के अभाव से उनके सिद्धान्तों में ऐक्य (एकवाक्यता) लक्षित नहीं हो पाता, प्रत्युत उनमें विरोध लक्षित होने लगता है। उन विरोधों का परिहार करते हुए उनमें एक वाक्यता प्रस्थापित करने के हेतु बादरायणव्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। इस स्वल्पकाय ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ में प्रायः ५५० सूत्र हैं। कुछ विद्वानों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार सूत्रों की संख्या में न्यूनाधिकता भी प्रदर्शित की है। बादरायणव्यासविरचित यह स्वल्पकाय सूत्रग्रन्थ वेदान्त के समस्त सिद्धान्तों का आकर-ग्रन्थ है। इसके अनेक भाष्यकारों में से आचार्य शंकर-भगवत्पाद अलौकिक पुरुष हो गये हैं। इसकी प्रगाढ़ विद्वत्ता, दिव्यदर्शी प्रतिभा, असाधारण-तर्कपटुता के समक्ष सभी को नतमस्तक होना पड़ता है। प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता) आद्यभाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद ही हैं।

पारमार्थिकसत्तारूप ब्रह्म की एकता और नानारूपों में प्रतीयमान जगत् की मायिकता वेदान्तशास्त्र का मूलमन्त्र है। इस मन्त्र का यथार्थज्ञान प्राप्त करने के लिए कतिपय अन्य सिद्धान्तों का भी परिचय होना आवश्यक है। 'आत्मज्ञान की स्वयं सिद्धि' वेदान्त का मौलिक सिद्धान्त है। इसके अवगत करने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन हो सकेगा।

आत्मतत्त्व-विचार—यह जगत्, अनुभूति पर ही अवलम्बित है। जगत् के समस्त व्यवहार अनुभव का अवलम्बन कर ही चलते रहते हैं। अनुभूति के इन विविध स्तरों में आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध है। ज्ञाता के रूप में आत्मा की उपलब्धि हुए बिना किसी भी विषय का ज्ञान हो पाना सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभव करनेवाले को स्वयं की सत्ता का अनुभव अवश्य होता रहता है। प्रमाणादि समस्त व्यवहारों का आश्रय 'आत्मा' ही है। किसी भी व्यवहार के पूर्व आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि निराकरण तो आगन्तुक वस्तु का होता है, स्वभाव का नहीं। उष्णता अग्नि का स्वभाव है, अग्नि उसका निराकरण नहीं कर सकता।

आचार्य शंकरभगवत्पाद ने उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन संक्षेप में इस प्रकार किया है—आत्मा के अस्तित्व में सभी को पूरा-पूरा विश्वास रहता

है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जो 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार अपने अस्तित्व का निषेध करे। इसलिए 'आत्मा की सत्ता' स्वयं सिद्ध है, यह स्वीकार करना ही पड़ता है।

आत्मसत्ता की स्वयं सिद्धि को याज्ञवल्क्य ने भी बताया है—जो स्वयं ज्ञाता है, उसे किस अन्य साधन से जाना जाय ?

जिस सूर्य के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, उस सूर्य को कौन प्रकाशित करेगा ? उसी तरह प्रमाणों की सिद्धि में प्रमाणभूत आत्मा को किस प्रमाण से सिद्ध किया जा सकेगा ? अतः आत्मा स्वयंसिद्ध है।

प्रत्येक विषयानुभूति में दो अंश रहते हैं—(१) अनुभव करनेवाला आत्मा और (२) अनुभव का विषय बननेवाला ज्ञेयपदार्थ। व्यावहारिक अथवा स्थूल-दृष्टि से जीव और जगत् दो भिन्न स्वतन्त्र सत्ताएँ दीखती हैं, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता आत्मा का ही सिद्ध होती है। इस विशाल विश्व में आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। नामरूपात्मक विकारों के भीतर सर्वत्र एक आत्मस्वरूप ही चैतन्यरूप से प्रकाशित हो रहा है। प्रत्येक अनुभूति में विषयी अथवा विषय, या कर्ता अथवा कर्म के रूप में एक ही अखण्ड आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती रहती है। आचार्य शंकरभगवत्पाद इस सृष्टि को देश-काल की विचित्रता के कारण चित्रीकृत कहते हैं। देश-काल ये दोनों पदार्थ मायाकल्पित होने से तज्जन्य भेद भी काल्पनिक सिद्ध होते हैं। इस विश्व में एक ही अखण्ड सत्ता विद्यमान है, जिसे आत्मसत्ता कहते हैं। उसे जो जानता है, वही वास्तविक तत्त्वज्ञानी है।

ब्रह्मतत्त्वविचार—निर्विकल्प, निरुपाधिक और निर्विकार आत्मसत्ता को ही 'ब्रह्म' कहते हैं। भगवती श्रुति बता रही है—ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है और वही ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त भी है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य यही निर्गुण—निर्विकार ब्रह्म है। आचार्य शंकरभगवत्पाद ने ब्रह्म के स्वरूपनिर्णयार्थ दो प्रकार के लक्षण किये हैं—(१) स्वरूपलक्षण और (२) तटस्थलक्षण। 'स्वरूपं सत् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्—अर्थात् पदार्थ के सत्य तात्त्विक स्वरूप का परिचय कराते हुए अन्य पदार्थों से पृथक् करनेवाला जो लक्षण हो उसे

स्वरूपलक्षण कहते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस स्वरूपलक्षण में 'ब्रह्म विशेष्य है और 'सत्य, ज्ञान तथा अनन्त' ये तीनों पद उसके विशेषण हैं। 'सत्यम्' विशेषण 'ब्रह्म' को नामरूपात्मक विकार से व्यावृत्त करता है, तथा 'ज्ञानम्' विशेषण से जडत्व की व्यावृत्ति हो जाती हैं। यहाँ 'ज्ञान' शब्द से ज्ञप्ति अथवा बोध समझना चाहिए। 'अनन्तम्' विशेषण से सीमित (मर्यादित) पदार्थों की निवृत्ति बताई गई है। लक्षणगत 'सत्य' शब्द अबाधित सत्त्व (सत्ता) के अर्थ में, 'ज्ञान' शब्द स्वप्रकाशचैतन्य के अर्थ में और 'अनन्त' शब्द व्यापक के अर्थ में है। ये तीनों विशेषण अपने स्वार्थ का समर्पण विशेष्य में करते हुए विरुद्धार्थ का निराकरण करते हैं।

ब्रह्म का दूसरा स्वरूपलक्षण 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' भी है। इन दोनों लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्दरूप अर्थात् 'ब्रह्म' सच्चिदानन्दस्वरूप है। आचार्य शंकर ने श्रुति के साथ-साथ युक्तिवाद से भी ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। कार्य-कारणसम्बन्ध का विचार करने पर समझ में आता है कि कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है। कोई भी कार्य अपने कारण से पृथक् वस्तु नहीं है। मिट्टी से बनाये गये घट-शरावादि सभी पदार्थ मिट्टी के ही होते हैं। सुवर्ण से बनाये गये कङ्कण-अंगुलीयक आदि अलंकार सोने के ही होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सभी कार्य अपने-अपने कारण में प्रारम्भ से ही अव्यक्तरूप में विद्यमान रहते हैं। कुलाल, सुवर्णकार आदि निमित्त कारणों के द्वारा, उसी अव्यक्त रूप को व्यक्त किया जाता है। विचार करने पर समझ में आ जाता है कि आकार धारण की हुई कोई भी वस्तु अपने मूलभूत द्रव्य से भिन्न नहीं है। वह तो मूलभूत द्रव्य कि एक अवस्थामात्र है। आकार की सत्ता, द्रव्य पर ही निर्भर होती है। अतः आकारजन्य भेदों को स्वीकार कर उसके उपादान कारण (मूलभूतद्रव्य) को उससे पृथक् (भिन्न) कहना उचित नहीं है। अर्थात् किसी आकार या गुण को उसके मूल द्रव्य से पृथक् समझना युक्तिसंगत नहीं है। आकार या गुण की सत्ता अपने मूलद्रव्य से भिन्न नहीं है। कुलाल ने अपनी कल्पना से घट-शरावादि पात्र बनाये, उनके भिन्न-भिन्न नाम रक्खे, तथापि वे सब नाम-रूपादि मिथ्या हैं और उन सबका मूलद्रव्य ही एकमात्र

सत्य है। भगवती श्रुति कह रही है कि विकार-विकार जो कहते हैं, वह केवल वाचारंभण अर्थात् नाममात्र है। विकार असत्य है, केवल मृत्तिका ही सत्य है।

विवर्तवाद—कारण के असत्य और काल्पनिक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दीक्षितेन्द्र ने कहा है कि तत्त्व का असत्य तथा भ्रामक परिवर्तन यानी ब्रह्म के अतात्त्विकभाव को 'विवर्त' संज्ञा दी गयी है। यह विवर्त या परिवर्तन वास्तविक न होकर मन के द्वारा आरोपित रहता है, इस मानसिक आरोप को ही आचार्य शंकर 'अध्यास' कहते हैं। 'अधि' पद से अधिष्ठान का बोध होता है। जिसपर किसी पदार्थ का आरोप किया जाता है उसे अधिष्ठान कहते हैं। अध्यस्त और अधिष्ठान में अध्यस्त (आरोपित) पदार्थ मिथ्या रहता है, और अधिष्ठान पदार्थ सत्य रहता है, यह अद्वैतदर्शन का सिद्धान्त है। जब तक अधिष्ठान-पदार्थ का ज्ञान नहीं हो पाता तब तक आरोपित पदार्थ भासित होता रहता है, किन्तु अधिष्ठान पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर भासमान पदार्थ के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। अध्यास को समझने के लिए इस दर्शन में प्रायः 'रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत' का उदाहरण दिया जाता है। मन्द अन्धकार में फैली हुई रस्सी यदि दिखलायी दे तो उसपर सर्प का भ्रम होने लगता है। उसी तरह मध्याह्न की चिलचिलाती धूप में बालुकास्थित सीप जब चमकती है, तब उस पर चाँदी का भ्रम होने लगता है, किंतु दीपक के प्रखर प्रकाश से रज्जु को देखने पर एवं सीप को हाथ में उठा लेने पर उपर्युक्त दोनों भ्रम निरस्त हो जाते हैं। उपर्युक्त दो उदाहरणों में क्रमशः रज्जु और शुक्ति इन अधिष्ठानों की सत्ता मानी गयी है। आचार्य शंकर ने इन उदाहरणों का अवलम्ब करके ही जगन्मिथ्यात्व को सिद्ध किया है। ब्रह्मात्मक अधिष्ठान पर जगत् का आभास भ्रम से होता है, किन्तु सत्यज्ञान होने पर उस भ्रम का निराश होकर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धांत दृढ हो पाता है। आचार्य शंकर जगत् को मिथ्यात्व बताते हैं, अतः वे जगत् का अस्तित्व बिलकुल नहीं मानते हैं, सो नहीं। आचार्य शङ्कर के कथन का तात्पर्य यह है कि परमार्थिक अवस्था में आत्मज्ञानी पुरुष के लिए जगत् भासित

नहीं होता। नाम-रूप तो प्रतिक्षण परिवर्तशील होने से नश्वर है। इसलिए वेदान्तियों ने उन्हें मिथ्या माना है। आत्मज्ञान होने तक व्यवहारदशा में अद्वैती भी जगत् को सत्य ही मानते हैं। 'आत्मसाक्षात्कार होने तक ही समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार उत्पन्न होते रहते हैं'—यह बात आचार्य शंकर ने अनेक बार कही है। इस युक्ति से विचार करने पर जगत् के समस्त आकार मिथ्या सिद्ध होते हैं। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहने वाली सत्य वस्तु कौन-सी? घट को नश्वर और मृत्तिका को सत्य बताया गया है, किन्तु मृत्तिका भी सर्वत्र समानरूप से रहने वाली मूलवस्तु नहीं है, क्योंकि मूलवस्तु वही होती है, जो यच्च यावत् समस्त पदार्थों का अधिष्ठान हो सके और जो सभी पदार्थों में अनुस्यूत रह सके। ऐसी वस्तु का जब अन्वेषण करते हैं, तब 'सत्ता' संज्ञक एक वस्तु ध्यान में आती है। यह 'सत्ता' विशिष्टसत्ता नहीं है, अपितु 'शुद्धसत्ता' है। यह 'शुद्धसत्ता' ही 'जगत्' का उपादान कारण है, और वही नानारूपों में प्रकट होती है, तथापि वह स्वयं निराकार और निरवयव है। इसी शुद्धसत्ता को 'ब्रह्म' कहते हैं। वह ब्रह्म एक और अद्वितीय है।

माया और अविद्या—इस एक मेव अद्वितीय, निर्विशेष और अनिर्वचनीय ब्रह्म से नामरूपात्मक सविशेष और सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इसका उत्तर आचार्य शंकरभगवत्पाद ने मायावाद के आधार पर दिया है। माया की दो शक्तियाँ होती हैं—(१) आवरणशक्ति और (२) विक्षेपशक्ति। ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को आवरणशक्ति ढक देती है और विक्षेपशक्ति उस ब्रह्म पर आकाशादि भौतिक जगत् को उत्पन्न करती है। जैसे कोई छोटा-सा मेघ का टुकड़ा, देखने वाले आदमी की दृष्टि के सामने आकर अनेक योजनविस्तीर्ण सूर्यमण्डल को ढक लेता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान के द्वारा, अनुभवकर्ता की बुद्धि आच्छादित हो जाने के कारण उसे अपरिच्छिन्न आत्मा—आच्छादित हो गया सा लगने लगता है। इस आच्छादक शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं। यथा रज्जु का अज्ञान अपनी शक्ति के द्वारा रज्जु पर सर्प का निर्माण करता है उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा पर अपनी शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् का निर्माण करती है, इसी शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते हैं।

आवरण का अर्थ है—मूलस्वरूप पर परदा डालना और उस आवृत्त हुए स्वरूप पर अन्य वस्तु का आरोप करना, यह विक्षेप का अर्थ है।

आचार्य शंकर ने माया और अविद्या इन दो शब्दों को समानार्थक माना है, किन्तु परवर्ती वेदान्तियों ने उन दोनों में सूक्ष्मभेद का प्रदर्शन कर दिया है। 'माया' अर्थात् परमेश्वर की बीजशक्ति। यह अविद्यात्मक होने से इसे 'अव्यक्त' भी कहते हैं। यह परमेश्वर पर आश्रित रहती है। जगत् में पदार्थों के दो रूप होते हैं—(१) सत् और (२) असत्। सत् का अर्थ है अबाधित और असत् का अर्थ है बाधित। यह माया, सत् और असत् दोनों से विलक्षण है। अत एव वह अनिर्वचनीय है। जिस पदार्थ का वर्णन सत् या असत् रूप से न किया जा सके, उसे दार्शनिक लोग अनिर्वचनीय कहते हैं। माया को यदि सत् कहें तो ब्रह्मज्ञान होने पर वह बाधित हो जाती है, इसलिए उसे यदि असत् कहें तो उसकी प्रतीति होती है। यदि वह असत् होती तो कभी भी उसकी प्रतीति न होती। माया में इन दो विरुद्ध धर्मों के रहने से आचार्य शंकर ने उसे अनिर्वचनीय कह दिया है।

आचार्य शंकर के समान ही श्री रामानुजाचार्य ने भी माया को माना है, किन्तु मायाविषयक कल्पना में दोनों की भिन्नता है। आचार्य रामानुज इस समस्त सृष्टि को वास्तविक सत्य स्वीकार करते हैं। इनके मत में माया, ईश्वर की सृष्टिकर्त्री शक्ति है। उस शक्ति से ब्रह्म में अवस्थित शरीरात्मक अचित् तत्त्व में विकार उत्पन्न होता है, किन्तु आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता। आचार्य शङ्कर भी माया को ईश्वर की शक्ति मानते हैं, किन्तु वह ईश्वर का नित्यस्वरूप नहीं है।

ईश्वरतत्त्व विचार—यही निर्विशेष ब्रह्म, जब माया के द्वारा आवृत होने पर सविशेष होता है और सगुणभाव को प्राप्त होता है तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का वही कारण है। अद्वैतदर्शन के अनुसार सर्वज्ञ, सर्वकाम, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, जगत्कारण आदि समस्त विशेषण ईश्वर के ही हैं। सम्पूर्ण जगत् का वह साक्षी होने से उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं। समस्त जीवों को उनके तत्तत् कर्मानुसार फलप्रदान करने के कारण उसे 'सर्वेश्वर' कहते हैं। उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, इसलिए

उसे सर्वकाम कहते हैं। समस्त जीवों को उनके अपने-अपने कर्मों की प्रेरणा देता रहता है, इसलिए उसे सर्वनियन्ता कहते हैं। समस्त जीवों के हृदय में रहकर उन्हें नियन्त्रित करता है, इसलिए उसे सर्वान्तर्यामी कहते हैं। चराचर विश्व का विवर्तरूप से अधिष्ठान है, इसलिए उसे जगत्कारण कहते हैं।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपर्युक्त अनेक गुणों से विशिष्ट यह ईश्वर किसलिए सृष्टि निर्माण करता है? यदि सृष्टि के निर्माण करने में उसका अपना कोई प्रयोजन हो तो उसका 'सर्वकाम' विशेषण बाधित हो जायेगा। यदि बिना किसी प्रयोजन के ही वह सृष्टि निर्माण करता है, कहें तो उसकी सर्वज्ञता में बाधा पहुँचती है। परन्तु इस प्रश्न का समाधान अद्वैतदर्शन ने 'उसकी लीला' कहकर किया है। सृष्टिनिर्माण करना ईश्वर की लीला मात्र है। पूर्णकाम ईश्वर का वह विलासमात्र है।

न्यायशास्त्र ने ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण माना है, किन्तु वेदान्त-शास्त्र ने निमित्तकारण के साथ ही उसे जगत् का उपादानकारण भी माना है। कुम्भकार घट का जैसे निमित्तकारण है, वैसे ही यह ईश्वर भी जगत् का निमित्तकारण है और मिट्टी जैसे घट का उपादान कारण है, वैसे ही यह ईश्वर जगत् का उपादान कारण भी है। ईश्वर का अर्थ है—मायोपाधिक ब्रह्म। उसके अपने चेतन धर्म की दृष्टि से वह ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है और मायारूप उपाधि की दृष्टि से यही ईश्वर जगत् का उपादानकारण भी है। वास्तव में ब्रह्म तो निर्गुण है, किन्तु माया के सम्बन्ध से वही ब्रह्म सत्त्वगुण के रूप में प्रतीत होता है। उपासकों की दृष्टि से वही सगुण अर्थात् ईश्वर का रूप धारण करता है।

जीव की भी यही स्थिति है। जीव और ब्रह्म दोनों में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। इसीलिए कहा गया है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। ईश्वर मायावच्छिन्नचैतन्य है, तो 'जीव' अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। दोनों चैतन्यरूप ही हैं। उपाधि के कारण सीमित होने से उसे पृथक् नाम और पृथक् सत्ता प्राप्त हुई है। माया ने ही उन दोनों को ब्रह्म से पृथक्-सा बना दिया है। श्री विद्यारण्य के शब्दों में यदि कहा जाय तो 'जीव और ईश्वर, ये

दोनों मायारूपी कालधेनु के दो वत्स हैं। वे अपनी स्वेच्छा से द्वैत का प्राशन भले ही करें, किन्तु उनका तत्त्व तो अद्वैत ही है।'

आचार्य शङ्कर के अनुसार शरीर एवं इन्द्रिय समूह दोनों का अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता जो आत्मा है, वही 'जीव' है। जीव की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का ज्ञान जिस अवस्था में होता है, उसे 'जाग्रत' अवस्था कहते हैं। जाग्रत अवस्था के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार के कारण जीव को स्मरणरूप विषयानुभव जिस अवस्था में होता है, उस अवस्था को 'स्वप्न' कहते हैं। जाग्रत और स्वप्न अवस्था में भोग देने वाले कर्म क्षीण होते हैं। उनके क्षीण हो जाने से स्थूल-सूक्ष्म देह विषयक अभिमान नष्ट हो जाता है। कारण शरीररूप अज्ञान में बुद्धि का लय हो जाता है और संस्कारजन्य स्मरणरूप ज्ञान भी जिस अवस्था में नहीं होता, उस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं।

अवस्थात्रय के समान ही जीव के पाँच कोष भी माने जाते हैं। अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये उन पाँच कोषों के नाम हैं। उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन अवस्थाओं का अभिमान रखने वाले क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ के नाम पर जीवात्मा के भेद दिये गये हैं। वे भेद व्यष्टि के अभिमानी जीव के हैं। समष्टि के अभिमानी ईश्वर के इन्हीं तीन भेदों को क्रम से विराट् या वैश्वानर, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ और ईश्वर संज्ञाएँ हैं।

निम्नांकित चित्रपट से उक्त अभिप्राय सुस्पष्ट हो जायेगा।

शरीर	अभिमानी	कोष	अवस्था
स्थूल	समष्टि—वैश्वानर व्यष्टि—विश्व	अन्नमय मनोमय	जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि—सूत्रात्मा व्यष्टि—तैजस	प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	समष्टि—ईश्वर व्यष्टि—प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव और ईश्वर इन दो तत्त्वों का निरूपण वेदान्तशास्त्र में अनेक प्रकार से किया गया है। जीव और ईश्वर दोनों का सामान्य रूप चैतन्य है। चैतन्य तो बिम्ब है और उसके प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न उपाधियों में पड़कर भिन्न-भिन्न नाम ग्रहण करते हैं! माया अथवा अविद्या में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को 'ईश्वर-चैतन्य' और अन्तःकरण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को 'जीवचैतन्य' कहते हैं। जलपूर्ण घट में और जलाशय में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब में जो अन्तर है, वही अन्तर जीव और विश्व दोनों में समझना चाहिए।

जगद्विचार—ऐन्द्रजालिक की तरह ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा इस विचित्र सृष्टि का निर्माण करता है। यहीं पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह जगत् सत्य है या असत्य? आचार्य शङ्करभगवद्पाद ने 'सत्य' की व्याख्या इस प्रकार की है—'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्'—जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, उस पदार्थ का वह रूप यदि सतत व्यभिचरित न होता हुआ समभाव से विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते हैं। अतः नित्य परिवर्तनशील या परिणामस्वभावसम्पन्न यह जगत् सत्य नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है। यदि सत्य नहीं है, तो क्या उसे असत्य कहा जाय? इस प्रकार वेदान्तियों ने उत्तर दिया है कि नाम-रूप से युक्त और प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण यह नाम-रूपात्मक जगत् का मिथ्या है। 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतिवचनों से 'जगत्' का मिथ्यात्व और 'ब्रह्म' का सत्यत्व बताया गया है। द्वैतवादियों को यह जगत् का जितना सत्य प्रतीत होता है, उतना ही अद्वैतवादियों को भी यह जगत् आत्मसाक्षात्कार होने तक व्यवहार दशा में सत्य प्रतीत होता है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता (स्थिति) का स्वीकार न करने पर भी उसकी व्यावहारिक सत्ता तो आचार्य शङ्कर ने भी स्वीकार की है।

वेदान्तियों ने सत्ता तीन प्रकार की मानी है—(१) प्रातिभासिक (२) व्यावहारिक, (३) पारमार्थिक। जो सत्ता, प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित होती है, किन्तु पश्चात् वह बाधित होती है तो उसे 'प्रातिभासिक सत्ता' कहते हैं। जैसे रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि। व्यावहारिक सत्ता 'विश्व'

के समस्त व्यावहारिक पदार्थों में रहती है। विश्व के पदार्थों का कोई न कोई नाम होता है व कोई न कोई रूप भी होता है। नाम-रूपात्मक इन वस्तुओं की सत्ता, व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। व्यवहारकाल में ही उनकी सत्यता रहने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की 'सत्ता' को 'व्यावहारिक सत्ता' कहते हैं। 'पारमार्थिक सत्ता' वास्तविक सत्ता है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि से जगत् की ओर देखने पर वह असत्य प्रतीत होता है। यह जगत् इन्द्रियों को सत्य अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु वह वास्तविक सत्य नहीं है।

वेदान्त में मिथ्या का अर्थ 'असत्' न होकर 'अनिर्वचनीय' माना गया है। इसी अनिर्वचनीयवाद की पारिभाषिक संज्ञा 'विवर्त' है। परिणाम और विवर्त के अन्तर को वेदान्तसार-कार ने बताया है। वे 'तात्त्विक-परिवर्तन' को विकार (परिणाम) और 'अतात्त्विक-परिवर्तन' को विवर्त कहते हैं। जैसे दूध का तात्त्विक विकार दही है, किन्तु सर्प, रज्जु का विवर्त है। दूध और दही की सत्ता एक ही प्रकार की (समान) है, किन्तु रज्जु और सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, तो रज्जु की सत्ता वास्तविक है।

जीवतत्त्वविचार—अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आत्मा यदि स्वभावतः ही नित्ययुक्त है तो वह संसार में बद्ध हुआ-सा क्यों प्रतीत होता है? आनन्दरूप आत्मा सांसारिक दुःखों से व्याकुल हुआ-सा क्यों दिखता है? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है 'अध्यास'। जीव के द्वारा अपने को स्थूल-कृश, अन्ध-बधिर, सत्कृत-तिरस्कृत समझना ही इन्द्रियों के धर्मों का आरोप स्वयं पर करना है और उनसे अपने को सुखी-दुखी समझना, यह सब अविद्या-विजृम्भित अध्यास का ही फल है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रवर्तक यह अध्यास स्वाभाविक है, अनादि है एवं अनन्त है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेयव्यवहारों का मूलाधार वही 'अध्यास' है, इसी का नामान्तर 'अध्यारोप' है।

इस अध्यारोप का निरास करने के लिए आत्म-विद्या का प्रतिपादन करना वेदान्तशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है।

यह जीव आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता रहता है। अविद्या के कारण अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव का उसे विस्मरण हो गया है। उसे इस अज्ञान से बाहर निकालकर ज्ञान की भूमिका पर आरूढ़ करना ही मोक्ष प्राप्ति करा देना है। एक ओर से आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति और दूसरी ओर से सकल शोक की निवृत्ति—यही मोक्ष का स्वरूप है। इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए वेदान्त ने साधनमार्ग भी बताया है।

दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से केवल कर्म, कर्मज्ञानसमुच्चय, केवल ज्ञान, इसी प्रकार अन्यान्य साधनमार्ग भी बताये हैं। आचार्य शंकर को प्रथम दो मान्य नहीं हैं। वे अन्तिम साधनमार्ग 'केवल ज्ञान' को ही मानते हैं। ज्ञानमार्ग या ज्ञाननिष्ठा मे ही उनका आग्रह है। कर्म के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती। अतः कर्म को मोक्ष का साधन समझना भ्रम है। एवंच मोक्ष के लिए कर्म करते रहना व्यर्थ है। तथापि नित्यकर्म का अनुष्ठान करते रहने का आचार्य शङ्कर आग्रह करते हैं। कर्म साक्षात् मोक्षप्रद न हो सकने पर भी निष्काम कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि होती है, उससे यह जीव, आत्मस्वरूप को जानने में समर्थ हो पाता है।

पद्मपादाचार्य ने अपनी विज्ञानदीपिका में वेदान्तसम्मत आचारपद्धति का जो विवेचन किया है, उसमें वे कहते हैं—'कर्म की प्रबलता से वासना उत्पन्न होती है और वासना से ही संसार का उदय होता है। अतः संसार का उच्छेद यदि करना हो तो कर्म का निर्हरण करना नितान्त आवश्यक है।

ज्ञान से मोक्ष—आचार्य शङ्कर ने अपने विवेकचूडामणि, उपदेशसाहस्री आदि ग्रन्थों मे ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया को अत्यन्त रोचक भाषा में बताया है। ज्ञानप्राप्ति के लिए साधक को साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिये। (१) ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और तदतिरिक्त समस्त संसार अनित्य और असत्य है, इस विवेक का उदय। (२) ऐहिक पारलौकिक समस्त फलोपभोगों के प्रति तीव्र वैराग्य। (३) १. मन की एकाग्रता, २. इन्द्रिय-निग्रह; ३. उपरति, ४. तितिक्षा, ५. समाधान, ६. गुरु और वेदान्त वाक्यों पर दृढ़-श्रद्धा

एवं मुमुक्षुत्व इत्यादि गुणों का उदय होनेपर मानव वेदान्तश्रवण का अधिकारी बन पाता है। अधिकारसम्पन्न होनेपर वह ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाय और आत्मविषयक प्रश्न करे। तब गुरु उस शिष्य को 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यों का उपदेश करे। उस उपदेश से शिष्य को जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञान होता है और उसके संपूर्ण शोक-मोह नष्ट होकर उसे परमानन्द का अनुभव होता है।

अद्वैतज्ञान के साधक के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यास की नितान्त आवश्यकता है। इन तीनों को आत्मसात् करने पर ही उसका परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान में परिणत होता है, तब वह साधक 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही ब्रह्म हूँ, इस अनुभव की भूमिका पर आरूढ़ होता है—यही वेदान्त का साधनमार्ग है।

जिसे मोक्ष का लाभ हो गया है, वह पुरुष संसार के बन्धनों में नहीं पड़ता। उसे शोक-मोह की बाधा नहीं होती। प्रारब्धकर्मों का क्षय होने तक वह देह को धारण किये रहता है, किन्तु उसकी देह पर आसक्ति नहीं रहती। ऐसे पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ—यह प्रतीति जीतेजी होने की अवस्था को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। गीता के 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादि श्लोकों में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण दिये गये हैं, वे सब जीवन्मुक्त के ही लक्षण हैं। वेदान्ती विद्वान् मुक्ति का स्वरूप समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया करते हैं। किसी आदमी ने अपने गले में एक रत्नहार पहना था, किन्तु वह इस बात को एकदम भूल गया और समझने लगा कि हार कहीं खो गया। उसको पाने के लिए वह अहर्निश सब जगह उसे खोजने लगा। उसे आकुल-व्याकुल देखकर एक दूसरा दयालु व्यक्ति उसके पास आकर उसे कहता है कि 'अरे रत्नहार तो तेरे गले में ही है।' यह सुनकर वह आदमी अत्यन्त प्रसन्न होकर कह उठता है कि 'रत्नहार मिल गया'। वास्तव में उसका वह रत्नहार न कहीं खोया था और न कहीं से उसे वह प्राप्त हुआ। वह तो उसका उसी के पास था। यही स्थिति मुक्ति की है। जीव तो स्वभाव से ही मुक्त है। मुक्ति की न उत्पत्ति होती है, न प्राप्ति। किन्तु यह जीव इस तथ्य को भूलकर मुक्ति को

सब जगह खोजता फिरता है। सौभाग्यवशात् जब विरला सच्चा सद्गुरु मिल जाता है और वह उसे उपदेश देता है, तब इसका आत्मविषयक अज्ञान दूर हो जाता है और विवेक उत्पन्न होता है। उस विवेक से यह जीव स्वाभाविक मुक्ति को ही पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है। वेदान्त के मत में मोक्षदशा नितान्त आनन्दमय है। इस दशा में जीव-ब्रह्मविषयक भेदभावना और तज्जन्य दुःख की केवल निवृत्ति ही नहीं होती, अपितु साधक को लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है। उस अनुभूति से वह कृतकृत्य हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने कर्म का तिरस्कार नहीं किया है अपितु चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्म करते रहने का आग्रह किया है।

प्रस्तुत प्रकरणग्रन्थ—प्रस्तुत 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थ अद्वैत-वेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ है। यह स्वल्पकाय होने पर भी कोहिनूर हीरे के समान है। इसमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों की प्रखर दमक-चमक है। ग्रन्थकार के द्वारा दिया गया प्रस्तुत ग्रन्थ का 'वेदान्त-सार' नाम सार्थक सिद्ध हुआ है। इसके समुचित अध्ययन करने से अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों को समझ पाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि उसकी लोकप्रियता बराबर वही रही और आज भी है। अध्येताओं की सुविधा की दृष्टि से इस संस्करण को हमने ४२ खण्डों में विभक्त किया है। वेदान्तसार ग्रंथ के रचयिता सदानन्द योगीन्द्र (१६ वीं शताब्दी का आरम्भ) हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने 'वेदान्तशास्त्रसिद्धान्त', 'सारसंग्रह', 'स्वरूपनिर्णय' आदि ग्रन्थों की भी रचना की है ऐसी लोकप्रसिद्धि है। प्रस्तुत वेदान्तसार के अतिरिक्त रामानुजाचार्य, स्वामीनारायणसम्प्रदाय तथा आचार्य शङ्करभगवत्पाद द्वारा भी रचित 'वेदान्त-सार' नाम के ग्रन्थ हैं। किन्तु श्री सदानन्दयोगीन्द्र के 'वेदान्तसार' ने ही लोक-प्रसिद्धि पायी। परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री सदानन्दयोगीन्द्र के वेदान्तसार पर अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें सबसे प्राचीन टीकाकार ग्रन्थकार के प्रशिष्य परमहंसपरिव्राजकाचार्य नृसिंह सरस्वती (१६ वीं शताब्दी) हैं। इन्होंने 'सुबोधिनी' व्याख्या लिखी। दूसरे व्याख्याकार कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थयति (१७ वीं श० पूर्वार्ध) हैं। इन्होंने 'विद्वन्मनोरञ्जनी' नाम की

व्याख्या लिखी। तीसरे व्याख्याकार महाराष्ट्र के सन्त प्रवर श्री एकनाथमहाराज के प्रपौत्र आपदेव (द्वितीय, १७ वीं शताब्दी) हैं। इन्होंने 'बालबोधिनी' नाम की व्याख्या लिखी। ये आपदेव ही 'मीमांसान्यायप्रकाश' के कर्ता हैं। इन तीन व्याख्याओं के अतिरिक्त अन्यान्य व्याख्याओं के भी होने का ज्ञान हस्तलेखसूचियों से हो रहा है।

आज बीसवीं शताब्दी में भी वेदान्तसार पर अनेक विद्वन्मूर्धन्यों ने छात्र-हितार्थ व्याख्याएँ लिखी हैं। जिनमें डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य काशीहिन्दूविश्वविद्यालय तथा श्री रामशरण त्रिपाठी शास्त्री एम० ए०, डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तव एम० ए०, प्रयाग विश्वविद्यालय, की व्याख्याएँ नितांत प्रशंसनीय एवं विद्वदादरणीय हैं। इन व्याख्याओं के अतिरिक्त अँग्रेजी में भी इस ग्रन्थ के अनुवाद, नोट्स आदि प्रकाशित हुए हैं।

प्रस्तुत 'वेदांतसार' ग्रंथ के रचयिता श्री सदानन्द योगीन्द्र ने माण्डूक्यादि उपनिषद्, पञ्चदशी आदि ग्रंथों के आधार पर सरल-सजीव भाषा के द्वारा संक्षेप में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है।

पुरुषोत्तममास
वि० १ जुलाई १९७७
वाराणसी

गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

वेदान्तसार के परीक्षापयोगी प्रश्न

१ वेदान्तस्य अनुबन्धचतुष्टयम्प्रदर्श्य सूक्ष्मशरीरस्य स्वरूपम्प्रतिपाद्यताम् ।

२ परिणाम-विवर्तयोर्भेदमुक्त्वा साधनचतुष्टयं व्याख्यायताम् ।

३ अध्यारोपं सम्यग्व्याख्याय ईश्वर-प्राज्ञयोः स्वरूपम्प्रदर्श्यताम् ।

४ शमादिषट्कसम्पत्तिं निरुच्य तत्त्वमसीतिमहावाक्यं कथमखण्डार्थबोधकं भवतीति उपपाद्यताम् ।

५ अज्ञानं तस्य शक्तिद्वयञ्च वर्ण्यताम् ।

६ जीवन्मुक्तिस्वरूपं निर्दिश्य सविकल्पकसमाधिर्निरूप्यताम् ।

७ अध्यारोप-अपवाद - अज्ञान-प्राण - ईश्वर-लिङ्गशरीर-अन्तःकरण - पञ्चकोष-वैश्वानर - ध्यान - धारणा - समाधिपदानां वेदान्तसारदिशा भेदप्रदर्शन-पुरःसरं लक्षणानि लिख्यन्ताम् ।

८ फलव्याप्ति-वृत्तिव्याप्त्योः स्वरूपम्प्रदर्श्य तदुपयोगः प्रतिपाद्यताम् ।

९ महावाक्यस्य अर्थप्रतिपादनरीतिः प्रदर्श्यताम् ।

१० पञ्चीकरण-प्रकारम्प्रदर्श्य अनुभववाक्यार्थं प्रतिपाद्यताम् ।

११ तत्त्वमसीतिमहावाक्यस्थ-तत्-त्वम्पदयोः शोधनप्रकारं निरुच्य तत्र भागत्याग-लक्षणाया अनिवार्यत्वं निरूप्यताम् ।

१२ निर्विकल्पसमाधेश्चत्वारो विघ्ना निराकरणोपायसहिता निरूप्यन्ताम् ।

१३ कानि षट् लिङ्गानि ? कथञ्च तानि वेदान्तानामद्वयब्रह्मपरत्वं प्रत्याययन्ति ?

१४ निम्नलिखितेषु टिप्पणी लेख्या—

जहदजहल्लक्षणा, सविकल्पसमाधिः, जहल्लक्षणा, पञ्चीकरणम्, विक्षेपशक्तिः, जीवन्मुक्तः, लिङ्गशरीरम्, अपवादः, तन्मात्राणि, विवर्तः महावाक्यम्, अनुभववाक्यम् ।

१५ निम्नलिखितानामंशानां व्याख्या विधेया—

(१) संसर्गो वा·····विदुषां मतः ।

(२) इदमेव तुरीयं·····चोच्यते ।

(३) बुद्धितत्स्थ·····स्फुरेत् ।
(४) जीवन्मुक्तो नाम·····ब्रह्मनिष्ठः ।
(५) किं बहुना·····अवतिष्ठते ।
(६) सतस्त्वतोऽन्यथाप्रथा·····इत्युदीरितः ।
(७) फलव्याप्यत्वमेवास्य·····वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
(८) समानाधिकरण्यं·····पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ।
(९) शक्तिद्वयवदज्ञानोपहित·····उपादानञ्च भवति ।
(१०) विक्षेपशक्तिः·····उपादानञ्च भवति ।
(११) इदं तत्त्वमसि·····तदुक्तम् ।
(१२) अपवादीनाम्·····तदुक्तम् ।
(१३) अनेन विघ्नचतुष्टयेन·····तदुक्तम् ।
(१४) अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलं·····वाक्यार्थो न संगच्छते ।
(१५) अज्ञानं तु·····श्रुतेश्च ।
(१६) न च तत्पदं त्वम्पदम्·····अपेक्षाभावात् ।

THATVAMASI

॥ श्रीः ॥

वेदान्तसारः

'सारबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतः

मङ्गलाचरणम्

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥

अन्वयः—(अहम्), अभीष्टसिद्धये, अखण्डम्, सच्चिदानन्दम्, अवाङ्मनसगोचरम्, अखिलाधारम्, आत्मानम्, आश्रये ॥ १ ॥

सारबोधिनी—स्वप्रकाशस्वरूपे प्रत्यगात्मनि संशयमापपन्नानां तज्जिज्ञासूनामल्पश्रवणेन मूलाज्ञाननिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दावाप्तिसिद्धये प्रकरणमारभमाणो ग्रन्थकारः शिष्टाचारपरिप्राप्तेष्टदेवताप्रतिपत्तिलक्षणमङ्गलाचरणस्यावश्यकर्तव्यतां प्रदर्शयंल्लक्षणयाऽनुबन्धचतुष्टयं निरूपयन् परमात्मानम्प्रणमति—अखण्डमित्यादिना। अखण्डमिति—(अहम्=सदानन्दः) अभीष्टस्य = निःश्रेयसस्य, सिद्धये=प्राप्त्यर्थम्, अखण्डम्=सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्यम्, सच्चिदानन्दम्=सर्वदा विद्यमानं स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपञ्च, अवाङ्मनसगोचरम्=इन्द्रियाऽप्राप्यम्, अखिलाधारम्=स्थावर-जंगमात्मकप्रपञ्चस्याधारभूतम्, सृष्टिस्थिति-लयकारणमिति यावत्। आत्मानम्=ब्रह्म, आश्रये=एकत्वेन प्रतिपद्ये ।

अत्राऽविषयस्यात्मनः प्रतिपत्तिसिद्ध्यर्थमखिलाधारमित्युक्तम्। प्रतिपत्तिविषयत्वेन दृश्यत्वापत्तिशंकानिरासार्थमवाङ्मनसगोचरमिति । ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे मृत्पिण्डवदनित्यत्वशङ्कानिराकरणार्थं सदिति। तस्य जडत्वशंका

निरासार्थम् चिदिति । तस्यापुरुषार्थत्वशंकानिरासार्थमानन्दमिति । प्रपञ्चस्य अधिष्ठानव्यतिरिक्ततया प्रतीयमानत्वाद् द्वैतशंकां निरसितुमखण्डमिति ।

अत्र अखण्डमिति विषयः, शास्त्र-विषययोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः, सच्चिदानन्दमिति प्रयोजनम्, तत्कामोऽधिकारीत्यनुबन्धचतुष्टयमर्थात् प्रतिपादितं भवति । यद्यपि आत्मपदमेवेह शेषिपदं तथापि श्रुत्युपरोधात् पदार्थशोधनार्थतया च ब्रह्मपदमध्याहृत्य विशेष्यं बोद्धव्यम् । एवं सति अखण्ड-सच्चिदानन्दं ब्रह्मात्मानमाश्रये इति ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्येन तत्त्वम्पदार्थयोरैक्यवाक्यार्थोऽब्रह्मत्वपारोक्ष्यनिवृत्त्या पूर्णतया निरूपितः स्यान्नान्यथा । यथा "अरुणया पिङ्गाक्ष्या गवैकहायन्या सोमं क्रीणाति" अत्र क्रयवाचिपदान्वितानामरुणादिपदानां परस्परान्वयस्तथैवैतेषां पदानां ब्रह्मपदेन प्रत्येकं प्रथमम-न्वितानां पश्चात्सामानाधिकरण्येन परस्परमपि सम्बन्धसिद्धिः । एवं विधिमुखेन परिच्छिन्नाऽनृतजडदुःखरूपाऽनात्मतद्धर्मविलक्षणं ब्रह्म निरूपितम् । अर्थात् विधिमुखेन ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपणं कृतम् । एवमेव निषेधमुखेन सकलनिषेधा-वधिभूतं सत्यस्य सत्यं ब्रह्म 'अवाङ्मनसगोचरमिति' निरूपितम् । अर्थात् निषे-धमुखेन ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपणं कृतम् । अवाङ्मनसगोचरम्—वाक् च मनश्च वाङ्मनसी तयोः गोचरः वाङ्मनसगोचरः, न वाङ्मनसगोचरः अवाङ्मनसगो-चरः तत् । अखण्डम्, सच्चिदानन्दम्, अवाङ्मनसगोचरम् एतावता ब्रह्मणः स्वरू-पलक्षणम् । अखिलाधारमित्यनेन ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्प्रतिपादितं भवति ॥१॥

विमला—(मैं सदानन्द) ग्रंथ की निर्विघ्न परिसमाप्तिरूप अभीष्ट सिद्धि के लिए अथवा कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्तिरूप अभीष्ट की सिद्धि के लिए सजातीय, विजातीय स्वगत भेदशून्य अथवा अनन्त (अविद्या से कल्पित देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से रहित), सत्स्वरूप (कभी भी बाधित न होने वाले अर्थात् अबाधित) ज्ञानस्वरूप (चैतन्यरूप) एवं आनन्दस्वरूप, वाणी जिसका वर्णन कर नहीं सकती (अनिर्वचनीय) और जिसके सम्बन्ध में मन कुछ सोच नहीं सकता (अचिन्त्य), समस्त स्थावर-जंगमात्मक प्रपञ्च के आधार (सृष्टि-स्थिति-लय के कारण) ब्रह्मरूप आत्मा का आश्रय ले रहा हूँ । अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो रहा हूँ ॥ १ ॥

व्युत्पत्ति—सच्चिदानन्दम्—यहाँ पर सत्, चित् और आनन्द तीन शब्द हैं। जो त्रिकालाबाध्य हैं अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान किसी भी काल में जिसका बाध नहीं होता उसे 'सत्' कहते हैं। इस प्रकारका सत् पदार्थ (वस्तु) एकमात्र आत्मा (ब्रह्म) ही है। अद्वैतवेदान्त में यह सत् तीन प्रकार से बताया गया है। (१) प्रातिभासिक सत्, (२) व्यावहारिक सत् और (३) पारमार्थिक सत्। इनमें पारमार्थिक सत् 'ब्रह्म' ही है। उसके अतिरिक्त सब कुछ प्रातिभासिक सत् या व्यावहारिक सत् है। ये दोनों सत् अविद्या के कार्य हैं, इसलिए दोनों मिथ्या हैं।

चित्—आत्मा (ब्रह्म) चैतन्यस्वरूप है। अद्वैत वेदान्तियों ने चैतन्य को आत्मा का स्वरूप माना है। नैयायिकों की तरह गुण नहीं। आत्मा को यदि चैतन्य-स्वरूप न माना जाय तो उसे जड़ कहना होगा।

आनन्द—आत्मा (ब्रह्म) आनन्दस्वरूप भी है। इसी कारण विवेकी लोग उसकी प्राप्ति की इच्छा किया करते हैं। वेदान्तियों ने आनन्द को भी आत्मा (ब्रह्म) का स्वरूप ही माना है, नैयायिकों की तरह उसे आत्मा का गुण या धर्म नहीं।

आत्मानम्—यहाँ 'आत्मन्' का अर्थ जीवात्मा नहीं है, अपितु ब्रह्म (परमात्मा) है। इसीलिए अखण्ड, सच्चिदानन्द, अवाङ्मनसगोचर, अखिलाधार आदि ब्रह्मबोधक शब्दों को 'आत्मानम्' के विशेषण बनाकर रखा गया है॥ १॥

(गुरुवन्दनम्)

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति॥ २॥

अन्वयः—अतीतद्वैतभानतः, अर्थतः, अपि, अद्वयानन्दान्, गुरून्, आराध्य, यथामति, वेदान्तसारम्, वक्ष्ये।

सारबोधिनी—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ इति श्रुत्या गुरुवन्दनस्यापि शास्त्राङ्गत्वप्रतिपादनात् तत्पादाभिवन्दनमपि पृथक्त्वेन विधेयमिति तदभिवन्दनपूर्वकमभिधेय-

ग्रंथम्प्रतिजानीते—अर्थतोपीति'—अतीतद्वैतभानतः=निरस्तसमस्तभेदप्रतीतितः, अर्थतः अपि = शब्दतः अर्थतश्च । अत्र अपिशब्देन न केवलं शब्दतः डित्थादिवत् संज्ञामात्रम् । अद्वयानन्दान् = अद्वयानन्दसंज्ञकान्, गुरून् = गुरुचरणान्, आराध्य = कायवाङ्मनोभिरुपास्य, प्रणम्येत्यर्थः, यथामति = बुद्ध्यनुसारं, वेदान्तसारम् = उपनिषद्वाक्यानां सिद्धान्तरहस्यम्, वक्ष्ये = प्रतिपादयिष्ये । २

विमला—भेद-प्रतीत के नष्ट हो जाने से शब्द और अर्थ दोनों दृष्टि से अद्वयानन्द नामक गुरु को प्रणाम कर अपनी बुद्धि के अनुसार उपनिषद्वाक्यों के सिद्धान्तरहस्य रूप 'वेदान्तसार' संज्ञक ग्रंथ को कहूँगा । २

व्युत्पत्ति—अतीतद्वैतभानतः—अतीतं गतं द्वैतभानं यस्मात्, तस्मात् ।

अद्वयानन्दान्—अद्वयाश्च ते आनन्दाश्च अद्वयानन्दाः, तान् ।

वेदान्तसारम्—वेदान्तानां सारः, तम् । यस्मिन् ज्ञाते पुनर्ज्ञातव्यं नावशिष्यते । ग्रंथकार (सदानन्द) के गुरु का नाम 'अद्वयानन्द' था । उनका यह नाम यथार्थरूप में था । ये अद्वैत आनन्द का अनुभव करते थे ।

गुरून्—गुरु एक रहने पर भी उनके प्रति आदर प्रदर्शन करने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है । २

(उपनिषदामेव वेदान्तसंज्ञा)

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च । अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः ।

(अनुबन्ध-चतुष्टयम्)

तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥३॥

सारबोधिनी—अधुना प्रतिज्ञात वेदान्तं नामतो निर्दिशति—'वेदान्तो नामेति ।' उपनिषद् एव प्रमाणमुपनिषत्प्रमाणम् । उपनिषदो यत्र प्रमाणमिति वा । उपनिषच्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषयः । उपनिपूर्वस्य क्विप् प्रत्ययान्तस्य 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेष्वित्यस्य धातोरुपनिषदिति रूपम् ।

तत्रोपशब्दः सामीप्यमाचष्टे, तच्च सङ्कोचकाभावात्सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति। निशब्दो निश्चयवचनः, सोऽपि तन्नैकट्यवाच्युपशब्दसामानाधिकरण्यात् तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति। तस्माद् ब्रह्मविद्या, स्वसंशीलिनां संसारसारतामर्ति सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्यादिमूलाज्ञानं सादयति उन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या, सैव (ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या) प्रमाणम्। तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशाखासु उत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रंथराशिरपि उपचारात् प्रमाणमित्युच्यते। तथा चोपनिषदः प्रमाणं प्रमाकरणम्, उपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थः। तदुपकारीणि—वेदान्तवाक्यसंग्राहकाणि, शारीरिकसूत्रादीनि 'अथातोब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादीनि सूत्राणि, अत्रादिशब्देन भगवद्गीताद्यध्यात्मशास्त्राणि परिगृह्यन्ते, तेषामपि उपनिषच्छब्दवाच्यत्वात्। अनुबन्धचतुष्टयस्य अनिरूपितत्वादत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः कथं स्यादित्यत आह—'अस्य वेदान्तेति।' —अस्य वेदान्तसारस्य, वेदान्तप्रकरणत्वात् वेदान्तशास्त्रस्य प्रकरणग्रंथत्वात्। प्रकरणलक्षणं हि "शास्त्रैकदेशसम्बद्धशास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रंथभेदं विपश्चितः॥" तथाच यच्छास्त्रैकदेशसम्बद्धं यत्प्रकरणं तत् तच्छास्त्रीयैरेवानुबन्धैरनुबन्धवद्युक्तम्। अन्यथा शास्त्रप्रकरणयोर्भिन्नविषयादिमत्त्वेन शास्त्रासम्बद्धत्वप्रसङ्गादसम्बद्धप्रलपितमिदमापद्येत। अतोऽस्य ग्रंथस्य वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणत्वाद्वेदान्तशास्त्रसिद्धैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न तेऽनुबन्धाः पृथगालोचनीयाः। ननु शास्त्रीयोऽनुबन्धः शास्त्रविद्भिरेव ज्ञायते, न व्युत्पित्सुभिस्तत्कथमिह तेषां शास्त्रीयविषयाद्यनभिज्ञानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य शास्त्रीयमेवानुबन्धं संक्षेपतो व्युत्पादयितुमुपक्रमते—तत्रानुबन्धो नाम इत्यादिना। तत्र 'वेदान्तशास्त्रे अनुबन्धचतुष्टयमेवाह—अधिकारीत्यादिना॥ ३॥

विमला—मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में 'वेदान्तसारं वक्ष्ये' कहा गया है। अतः 'वेदान्त' शब्द का अर्थ बता रहे हैं। प्रमारूपब्रह्मज्ञान का बोधक प्रमाणरूप उपनिषदें हैं, उन उपनिषदों को ही 'वेदान्त' कहते हैं। वेद+अन्त (सिद्धान्त) अर्थात् वेद का सिद्धान्त। वेद के चरम सिद्धान्त के अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों में उपलब्ध होता है। 'उपनिषद्' शब्द की निष्पत्ति उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक 'षद्लृ' (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर हु-

है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण (नाश होना), गति (प्राप्ति), अवसादन (शिथिल करना)। उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या है। जिसके अध्ययन करने से ऐहिक, पारलौकिक विषयों से विरक्त हुए मुमुक्षु-जनों की संसारबीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःखों का सर्वदा के लिए शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है। उपनिषद् का मुख्य अर्थ है—'ब्रह्मविद्या' और गौण अर्थ है—'ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रंथविशेष'। प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना-अपना विशिष्ट उपनिषद् है। उन उपनिषदों के समर्थक शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) भाष्य, गीता आदि को भी गौणरूप से वेदान्त कहते हैं। प्रस्तुत 'वेदान्तसार'—संज्ञक पुस्तक वेदान्त शास्त्र का ही प्रकरणग्रन्थ होने से वेदान्त शास्त्र के अनुबन्धों (अनिवार्यरूप से आवश्यक विचारणीय अंगों) से ही प्रस्तुत प्रकरणग्रन्थ (वेदान्तसार) की भी अनुबन्धवत्ता सिद्ध हो जाती है। इस कारण उनकी पृथक् आलोचना (विवेचना) करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ३ ॥

व्युत्पत्ति—शारीरकसूत्रादीनि—शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः, सः सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि 'अथातः ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादीनि वेदान्तसूत्राणि (ब्रह्मसूत्राणि)। यह शरीर कुत्सित (निन्दित अनेकदोषदूषित) है, अतः इसे शारीरक कहते हैं। इसमें निवास करने वाले जीवात्मा को भी शारीरक कहते हैं उसका यथार्थरूप से निरूपण जिन सूत्रों के द्वारा किया जाता है उन्हें शारीरकसूत्र कहते हैं। शारीरक सूत्रों को ही वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र अथवा व्याससूत्र भी कहते हैं। आदिपद से श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीशंकराचार्य के भाष्य आदि को समझना चाहिये।

प्रकरण—किसी एक शास्त्र के एक अंश से सम्बद्ध तथा अन्य शास्त्रों के भी प्रसंगानुसार उपयुक्त अंश को बतानेवाले ग्रंथ को विद्वान् लोग 'प्रकरण' कहते हैं।

अनुबन्धचतुष्टय—परस्पर सुसम्बद्ध विचारणीय तत्त्वों को अनुबन्ध

कहते हैं। वे अनुबन्ध चार हैं--अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। वेदान्तशास्त्र के ये चार अनुबन्ध ही प्रस्तुत 'वेदान्तसार' पुस्तक के भी समझने चाहिये ॥ ३ ॥

अनुबन्धचतुष्टय के निरूपणार्थ वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी कौन हो सकता है? उसे बताते हैं—

(अधिकारिवर्णनम्)

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता ॥ ४ ॥

सारबोधिनी—यथोद्देशक्रममधिकारिणं निरूपयति अधिकारीत्विति। धर्मजिज्ञासाधिकारिणोऽस्य वैलक्षण्यसूचनाय तुशब्दः। प्रमाताऽधिकारीत्यन्वयः। लौकिकवैदिकव्यवहारेषु अभ्रान्तो जीवः प्रमाता इह विवक्षितः। जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रार्थप्रतिपत्तृत्वायोगात्। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति तैत्तिरीयारण्यकवचनात् उपनीतानां त्रैवर्णिकानामध्ययनं नियमेन विधीयते। अतोऽध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति भट्टपादाः। गुरुवस्तु (प्रभाकरचरणास्तु) अध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनं मन्यन्ते। तथाचाधीतो वेदः अधीतानि च वेदांगानि शिक्षाकल्पव्याकरणच्छन्दोज्योतिर्निरुक्ताख्यानि। तस्मादापाततोऽधिताखिलवेदार्थः। सर्ववेदार्थरहस्येऽवगते सति उत्तरग्रंथवैयर्थ्यपरिहाराय आपातत इत्युक्तम्। अनधीतवेदानामपि विदुरादीनां तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनादध्ययनतदायुक्तकर्मानुष्ठानवैयर्थ्यमाशंक्योत्तरमाह—जन्मान्तर इति। तेषां विदुरादीनामाधुनिकाध्ययनाद्यभावेऽपि जन्मान्तरीयाध्ययनादिना चित्तपरिपाकवतामस्मिन् जन्मनि विनाप्यध्ययनादिना ज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात् नाध्ययनादिवैयर्थ्यम्। काम्येति। काम्यस्यापि कर्मणो धर्मसाधनत्वेऽपि यातायातसम्पादकत्वेन बन्धकत्वात्

निषिद्धवत् तद्वर्जनपुरःसरमित्युक्तम्। तथा च नित्यादिकर्मानुष्ठानेन निर्गत-निखिलकल्मषतया निःशेषनिरस्तसकलकल्मषत्वेन। अत्र निखिलपदं काम्य-निषिद्धजनितसुकृतदुष्कृतपरम्। तेन नितान्तनिर्मलस्वान्तः अत्यन्तं स्वच्छान्तः-करणः अन्तःकरणे प्रतिफलितचैतन्यवानित्यर्थः। तथोक्तः वक्ष्यमाणसाधन-चतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता अधिकारी वेदान्तशास्त्रस्येति शेषः। न तावद्वेदाध्ययनं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुः तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वात् तन्मात्रेणेह नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि धर्मविचारः, प्रागपि धर्मविचारादधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। नापि धर्मानुष्ठानमिह जिज्ञासाहेतुः, विनापि धर्मानुष्ठानं ब्रह्मचर्यादेव विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात्। अतो जायमाना ब्रह्मजिज्ञासा यस्मिन् सत्येव नियमेन जायते, यस्मिन्नसति नैव जायते तदेव तस्याः साधन-मभ्युपगन्तव्यम्। तच्च वक्ष्यमाणं साधनचतुष्टयमेवेति ॥ ४ ॥

विमला—वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी वही होगा, जिसने (१) इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में समस्त वेद तथा वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का अध्ययन कर उसके अर्थ को आपाततः (साधारणतया) जान लिया हो, (२) तथा इस जन्म में अथवा पूर्व जन्म में जिसने काम्यकर्मों तथा निषिद्धकर्मों का अनुष्ठान न कर केवल नित्य-कर्म, नैमित्तिककर्म, प्रायश्चितकर्म एवं उपासनाकर्म के अनुष्ठान से समस्त पाप (अन्तःकरण के मल) नष्ट हो जाने के कारण अपने अन्तःकरण को अत्यन्त निर्मल (मलरहित, बना लिया हो, (२) और जिसने साधनचतुष्टय (चार साधनाओं) को सम्पन्न कर लिया हो वही प्रमाता (प्रमाण के द्वारा ब्रह्मरूप प्रमेय को जानने वाला इच्छुक अर्थात् वेदान्त शास्त्र के अध्ययन का अधि-कारी) होता है।

व्युत्पत्ति—१. अधिगताखिलवेदार्थः—अधिगतः = अवगतः अखिलः = सम्पूर्णः वेदार्थः = वेदाभिप्रायः येन सः। निर्गतनिखिलकल्मषतया निर्गतानि = दूरीभूतानि निखिलानि = समग्राणि कल्मषाणि = मलानि यस्य सः—निर्गतनिखिलकल्मषः तस्य भावो निर्गतनिखिलकल्मषता, तया।

२. नितान्तनिर्मलस्वान्तः—नितान्तम् = अत्यन्तम्, निर्मलम् = मलर-हितम्, स्वान्तम् = अन्तःकरणं हृदयमितियावत् यस्य सः।

३. साधनचतुष्टयसम्पन्न:—साधनानां=उपायानां चतुष्टयम्=चतु: संख्या इति साधनचतुष्टयं, तेन सम्पन्न:=युक्त: ।

अधिकारी—ऊपर कहे गये तीन विशेषणों से युक्त जीवात्मा वास्तविक ब्रह्मजिज्ञासु (प्रमाता) ही वेदान्तविद्या के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है ।। ४ ।।

काम्य, निषिद्ध तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रत्यवाय, प्रायश्चित्त कर्मों के स्वरूप को क्रमश: बता रहे हैं—

(काम्यादिकर्मस्वरूपाणि)

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि । निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि । नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि । नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि । प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि । उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि ।। ५ ।।

सारबोधिनी—काम्यादिकर्माणि निरूपयति—काम्यानीत्यादिना । फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि । 'विश्वजिता यजेत' इत्यादावव्याप्तिरिति चेन्न । तत्रापि "स स्वर्ग: स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" इति न्यायेन स्वर्गफलोद्देशेन विधे: साधितत्वात् । आदिशब्दोऽहीनसत्रसंग्रहार्थ: । अभावगतेष्टसाधनतानिषेधकलृप्तदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि । लिङाद्यनुषक्तनञ्घटितवाक्यगम्यानि वा । नरकादीत्यादिपदादैहिकदु:खसंग्रह: । ब्राह्मणहननादीत्यादिपदात् सुरापानादिसंग्रह: । प्रत्यवायशब्देन आगामिदु:खमुच्यते । येषां करणे अविज्ञायमाने तत् साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि । अथवा येषामकरणे विज्ञायमाने तत् साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि । अर्थात् अकरणे प्रत्यवायलक्षणानि नित्यानि । निर्निमित्तमुपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति-नित्यकर्मलक्षणम् । नतु अकरणे प्रत्यवायोत्पादकानि नित्यानि, अभावाद्भावोत्पत्ते: । अत: अकरणे प्रत्यवायसाधनानि प्रत्यवायज्ञापकानि नित्यानि

इति व्याख्यातव्यम् । सन्ध्यावन्दनादीनि इत्यादिपदात् पञ्चमहायज्ञादिसंग्रहः । निमित्तमात्रमासाद्य अवश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि । तदाह–पुत्रेति । जातेष्टिर्नाम "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" इति विहिता । आदिपदात् "यस्याहिताग्नेर्गृहान् दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्" इत्यादिनोक्तानां क्षामवत्यादीनां संग्रहः । विहिताकरणप्रतिसिद्धसेवनरूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि, पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानीति वा, आदिपदात्कृच्छ्रादिसंग्रहः । शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालादरनैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरणलक्षणानि उपासनानि । निदिध्यासनाद्भेदमाह–सगुणेति । उपासनानां ज्ञानाद्भेदं दर्शयति मानसव्यापाररूपाणीति । शाण्डिल्यविद्या नाम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्युपक्रम्य "स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः" इत्यादिना छान्दोग्ये विहिता आदिशब्दाद्दहर-वैश्वानरादिविद्यान्तरग्रहः ॥ ५ ॥

विमला—अभिलषित स्वर्गलोक आदि के साधन (उपाय) भूत ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ—काम्य कर्म हैं । नरक आदि अनिष्ट (अनभिलषित) स्थानों की प्राप्ति में निमित्त (साधन) बननेवाले ब्राह्मणहत्या आदि–निषिद्ध कर्म हैं । अनुष्ठान न करने पर प्रत्यवाय (पाप या हानि) के निमित्त (साधन) होनेवाले सन्ध्यावन्दन आदि—नित्यकर्म हैं । पुत्रजन्म आदि निमित्त के प्राप्त होने पर अनुष्ठान किये जाने वाले जातेष्टि आदि कर्म नैमित्तिक कर्म हैं । पापों को नष्ट करने में हेतुभूत चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित्त कर्म हैं सगुणब्रह्म में दीर्घकाल तक मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिए किये जाने वाले कर्म उपासना कर्म हैं, जैसे शाण्डिल्य विद्या आदि ॥ ५ ॥

व्युत्पत्ति—काम्यानि—किसी कामना से किये जाने वाले कर्म को काम्य कर्म कहते हैं ।

निषिद्धानि—जिन कर्मों से पाप और उसके फलस्वरूप नरक आदि दुःखद स्थान प्राप्त होते हैं उन कर्मों को निषिद्ध कर्म कहते हैं ।

नित्यानि—जिन कर्मों के करने से यद्यपि पुण्यादि फल की प्राप्ति नहीं होती तथापि उन कर्मों के न करने पर पाप और उसका फल अवश्य मिलता है, ऐसे कर्मों को नित्यकर्म कहते हैं ।

नैमित्तिकानि—धर्मशास्त्रों के द्वारा किसी निमित्त को उद्देश्य कर जिन कर्मों का विधान अवश्य कर्तव्य के रूप में किया जाता है, उन्हें नैमित्तिक कर्म कहते हैं।

प्रायश्चित्तानि—निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से तथा शास्त्रविहित कर्मों के न करने से जो पाप होता है उसे दूर करने के लिए किये जाने वाले कर्मों को प्रायश्चित्तकर्म कहते हैं। जैसे—चन्द्रायणव्रत यह एक प्रकार का उपवास है। इसमें शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की प्रतिदिन एक-एक कला की वृद्धि के अनुसार एक-एक ग्रास का भोजन बढ़ाया जाता है, और कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की एक एक कला के क्षय के अनुसार भोजन में एक-एक ग्रास कम किया जाता है। प्रत्येक महीने में पन्द्रह-पन्द्रह दिन के दो पक्ष होते हैं। पूर्णिमावाले पन्द्रह दिन को शुक्ल पक्ष कहते हैं, और अमावस्यावाले पन्द्रह दिन को कृष्ण पक्ष कहते हैं।

उपासना—मानसिक व्यापार [ध्यान] को उपासना कहते हैं। इसमें सगुण ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। जैसे—शाण्डिल्यविद्या आदि। इसमें जगत् और आत्मा की ब्रह्मरूप से उपासना करने को शाण्डिल्य ऋषि ने कहा है, इसलिए इसे शाण्डिल्यविद्या कहते हैं। यह छान्दोग्य उपनिषद् [३।१४। १,२] में बताई गई है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक में भी अन्यान्य उपासनाओं को बताया गया है ॥ ५ ॥

नित्यादिकर्मों के मुख्य तथा अमुख्य फलों को बता रहे हैं—

[कर्मफलानि]

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादिस्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक" इत्यादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

सारबोधिनी—उक्तलक्षणानां नित्यादीनामीश्वरार्पणतयाऽनुष्ठीयमानानां

परमफलं दर्शयति—एतेषामिति । आदिपदान्नैमित्तिकप्रायश्चित्तयोः संग्रहः । नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिहेतुत्वं निर्गतनिखिलकल्मषतयेत्युक्तत्वात् । एतेषां परमप्रयोजनं बुद्धिशुद्धि [चित्तशुद्धिः] परम्परया मोक्षसाधनत्वात् । उपासनानां त्विति । तुशब्दः कर्मभ्य उपासनाया वैशिष्ट्यद्योतनार्थः । नित्याद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषये ऐकाग्र्यं निश्चलत्वम् । सूक्ष्मार्थावधारणसमर्थत्वमित्यर्थः । तत्र प्रमाणं तमेतमात्मानमिति श्रुतिः, तपसा कल्मषमिति स्मृतिश्चेति । ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धितदैकाग्र्यफलकत्वे 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' सर्व एते 'पुण्यलोका भवन्ति' इति श्रुतिर्नित्यादीनां पितृलोकादिफलपरा पीडयेतेत्यत आह—नित्यनैमित्तिकेति । अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफलाभावात् । नहि उपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित् फलं श्रुतमस्ति, अन्ययोस्तु तच्छ्रूयत इति विशेषः । नित्यनैमित्तिकयोः पितृलोकप्राप्तिरवान्तरफलमुपासनानां सत्यलोकप्राप्तिरिति विवेकः ॥ ६ ॥

विमला—अब नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों के प्रधान और अप्रधान फलों को बताते हैं—ऊपर बताये गये नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्मों का परम [मुख्य] प्रयोजन [फल] बुद्धि की शुद्धि [निर्मलता] होना है । किन्तु उपासनारूप कर्मों का परम प्रयोजन चित्त की एकाग्रता होना है । श्रुति, स्मृति के द्वारा भी उक्त अभिप्राय का समर्थन किया गया है—'उपनिषदों में वर्णित उस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन और यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं ।" [बृ० आ० उ० ४।४।२२] "श्रुति और तपस्या के द्वारा [ब्राह्मण] पाप का विनाश कर देता है ?" [मनु० १२।१०४] स्मृति । नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर [अप्रधान-गौण [[प्रयोजन फल] पितृलोक की प्राप्ति है । तथा उपासनारूप कर्मों का अवान्तर फल सत्यलोक की प्राप्ति है । उक्त अभिप्राय का समर्थन श्रुति ने भी किया है—'कर्म से पितृलोक तथा विद्या [उपासना] से सत्यलोक [देवलोक] की प्राप्ति होती है । [बृ० आ० १।५।१६] इत्यादि ॥ ६ ॥

व्युत्पत्ति—विविदिषन्ति—वेत्तुम् इच्छन्ति = जानना चाहते हैं । [विद

+सन्+अन्ति]। भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य, के अद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार कर्मानुष्ठान [कर्मकाण्ड] मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है, किन्तु परम्परया साधन है। यह मुमुक्षु-व्यक्ति को ज्ञान अथवा जिज्ञासा तक ले जाने वाला मार्ग (सोपान) मात्र है। इनके सिद्धान्त में एकमात्र ज्ञान से ही मोक्ष होता है, "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"

अवान्तरफलम्— आम के पेड़ आम्र फल पाने के उद्देश्य से लगाये जाते हैं। किन्तु घाम से तप्त हुए पथिक लोग उसकी छाया को भी पाते हैं। किन्तु छाया को प्राप्त करना पेड़ लगाने वाले का मुख्य उद्देश्य नहीं था, छाया का प्राप्त होना तो गौण [अवान्तर] फल है। मुख्य फल तो आम्र फलों को प्राप्त करना ही है, उसी प्रकार नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त कर्मों की चित्त-शुद्धि मुख्य फल है और 'पितृलोक प्राप्ति' गौण (अवान्तर) फल है, उसी प्रकार उपासना का मुख्य फल चित्त की एकाग्रता है और अवान्तर फल (गौण) सत्यलोक की प्राप्ति है।

देवलोक (सत्यलोक) यह पृथ्वीलोक से ऊपर स्थित सात लोकों में सबसे ऊपर स्थित है, सत्यलोक का अर्थ मोक्ष नहीं है ॥ ६ ॥

अधिकारी के विशेषणभूत साधनचतुष्टय का निरूपण करते हैं—

(साधनचतुष्टयम्)

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोग-विरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तु-विवेकस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शम-स्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्ति-

तानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवभूतः प्रमाताधिकारी 'शान्तो दान्त' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च ग्रहणदोषाय यथोक्तकारिणे। गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षव" इति ॥७॥

सारबोधिनी—साधनचतुष्टयम्—साधनसम्पन्नः प्रमाता अधिकारीत्युक्तम्। तत्र कानि साधनानि कियन्ति वेत्यपेक्षायां तानि विभजते—साधनानीति। विवेकमन्तरेण वैराग्यायोगाद् विवेकस्य प्राथम्यं, नहीदं हेयमिदमुपादेयमिति विवेचनमन्तरेण हेयाद्रागनिवृत्तिः संभवति। अनिवृत्तरागस्य शमाद्यभावाच्छमाद्यपेक्षया विरागस्य पूर्वमुद्देशः। शान्त्यादिहीनस्य मुमुक्षाऽयोगात्ततः प्रागेव शमाद्युद्देशः। एतैस्त्रिभिः साधनैः सम्पन्नस्य मुमुक्षाया अवश्यभावात्, तस्यां च सत्यां ब्रह्मजिज्ञासायां नियमेन प्रवृत्तेर्मुमुक्षान्तान्येव साधनानीति भावः।

विवेकादीनि उद्देशक्रमेण लक्षयति—नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावदित्यादिना। नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वम्। अनित्यत्वं नाम तद्विपरीतत्वम्। इदं वस्तु नित्यम्, इदमनित्यमिति विवेचनं नित्याऽनित्यवस्तुविवेकः। स च आपाततः अधिगतवेदार्थस्य अनुमानकुशलस्य ब्रह्मैव नित्यं वस्तु, ततोऽन्यदखिलमचेतनमनित्यमिति विवेको भवति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणि नित्यत्वं विशुद्धसत्त्वस्य पुंसः प्रतिभाति। तथा 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणोऽन्यत्र भेदप्रपञ्चे अनित्यत्वं च तस्यैव पुंसः प्रतिभाति। तथाऽनुमानप्रयोगोऽपि 'विमतः अचेतनवर्गः अनित्यः विभक्तत्वात् घटपटादिवत्।' अनेन हि विभक्तस्य अनित्यत्वे अवगते तस्मिन्ननुगतप्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणः अविभक्तस्य नित्यत्वमपि अर्थादवगच्छति। ननु एव श्रुत्यनुमानाभ्यां विवेके सति ब्रह्मणो विज्ञातत्वात् अलं विचारेणेति चेत् न,। आपाततो नित्यं

वस्तु ब्रह्म इत्यवगमेऽपि तस्य अद्वितीयत्वप्रत्यगभिन्नत्वादेरनिर्धारणाज्जिज्ञासाया अनिवृत्तेः । ऐहिकानामिति । इह लोके भवा ऐहिकाः प्रतिपन्नशरीरसम्बन्धिनः स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेमपशुभृत्यादिविषयजन्यसुखरूपा भोगाः । कृषिसेवाप्रतिग्रहादिकर्मजन्या अनित्या यथा दृष्टाः, एवमामुष्मिका अपि अमृतादिविषयसेवाजन्यानन्दा यागादिकर्मजन्यत्वादनित्या भवितुमर्हन्तीति निश्चित्य तेभ्यो नितरां छर्दितान्नवत् जुगुप्सा, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः । ननु अस्त्वेवमैहिकं सुखमनित्यत्वादिदोषदुष्टत्वाद् विरागास्पदं तथापि न पारलौकिकादपि विरक्तिरुपपद्यते, क्षयिष्णुत्वाऽनुमानस्य 'अक्षय्य ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (श० प० २–६–३) इति श्रुतिबाधितविषयस्याऽनुत्थानादिति चेन्मैवम् । 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत' [छां० उ०–८–१–६] इति श्रुत्या वस्तुबलावलम्बनेन प्रवृत्तया अनन्यपरया सापेक्षाक्षय्यफलविषयकायाः प्राशस्त्यलक्षणाया विध्येकवाक्यत्वेन अन्यपरायास्तस्या एव बाधितत्वात् । नहि जन्यं नित्यं भावरूपं दृष्टम् । अत ऐहिकभोगवदेव आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तेषु भोगेषु वैराग्यमुपपद्यते । तदुक्तं भगवता व्यासेन—(महाभारते - अनुशासन पर्वणि - दानधर्म पर्वणि-पृष्ठः ६

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"

शमादीन् विभजते—शमादय इति । मनसो बहिः प्रवृतौ बाह्येन्द्रियाणां द्वारत्वात् तन्निरोधं विना मनोनिग्रहाऽशक्तेः दमानन्तरं शमो द्रष्टव्यः, पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात् अग्निहोत्रयवागूपाकवत् । तत्र शमं लक्षयति—शमस्तावदिति । यथा तीव्रायां बुभुक्षायां भोजनादन्यो व्यापारो मनसे न रोचते, भोजने विलम्बं च न सहते, तथा स्रक्चन्दनादिविषयेषु अत्यन्तमरुचिः, तत्त्वज्ञानसाधनेषु श्रवणमननादिषु चात्यन्तमभिरुचिर्जायते । तदा पूर्ववासनाबलाच्छ्रवणादिसाधनेभ्य उड्डीय स्रक्चन्दनादिविषयेषु गम्यमानं मनो येन अन्तःकरणवृत्तिविशेषेण निगृह्यते स वृत्तिविशेषः शमः । 'अन्तःकरणस्य मनसो निग्रहो विषयेभ्यो बलादाकर्षणं शम' इत्येतावत्युक्ते श्रवणादिविषयेभ्योऽपि निग्रहे प्राप्ते ततो हिग्रहस्य ज्ञानानुकूलत्वाभावात् आनर्थक्यमित्याशंक्य निग्रहं

विशिनष्टि श्रवणादिति। मननादिसंग्रहार्थमादिपदम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। दमस्य लक्षणमाह—दम इति। ज्ञानसाधनश्रवणादिसाधनेभ्यो विलक्षणेषु शब्दादिविषयेषु प्रवर्तमानानि श्रोत्रादीनि बाह्येन्द्रियाणि येन वृत्तिविशेषेण निवर्त्यन्ते स दम इत्यर्थः। तद्व्यतिरिक्तेत्यत्र श्रवणादिस्तच्छब्दार्थः। निगृहीतानामेव तेषां बाह्यान्तरिन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणं पुनर्विषयप्रवृत्त्यनुत्साहकरणेन स्थिरीकरणमुपरतिः। अर्थात् बाह्यान्तरिन्द्रियाणां श्रवणादिसाधनव्यतिरिक्तेषु शब्दादिविषयेषु यथा तानीन्द्रियाणि सर्वथा न गच्छन्ति तथा तेषां निग्रहो येन वृत्तिविशेषेण क्रियते सा उपरतिरित्यर्थः। ननु शमदमयोर्लक्षणाभ्यामिदमुपरतिलक्षणं संकीर्णम् प्रतिभाति, बहिःप्रवृत्तेन्द्रियव्यापारनिरोधात्मकस्य लक्षणार्थस्य तुल्यत्वादित्यपरितोषात् प्रकारान्तरेणोपरतिं लक्षयति—अथवा विहितानामिति। विहितानामवश्यकर्तव्यतया चोदितानां संध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां नित्यादिकर्मणां विधिना चतुर्थाश्रमस्वीकारेण परित्यागः उपरतिः। नाहं कर्ता इत्यवस्थानमुपरतिरित्यर्थः। शमादिवत् संन्यासोऽपि आत्मज्ञानाऽन्तरङ्गत्वादवश्यं मुमुक्षुणा अनुष्ठेयः। तितिक्षाया लक्षणमाह—तितिक्षेति। शरीरधर्मस्य शीतोष्णादेः तज्जन्यसुखदुःखादेश्च शरीरस्य त्यक्तुमशक्यत्वात् स्वप्रकाशचिद्रूपे स्वात्मनि च शीतोष्णादेरत्यन्ताभावादिति विवेकदीपेन मिथ्याभूतस्य शीतोष्णादेः द्वन्द्वस्य यत्सहनं सा तितिक्षा। शीतोष्णादीत्यादिपदान्मानापमानलाभालाभशोकहर्षादीनां संग्रहः। समाधानलक्षणमाह—निगृहीतस्येति। शब्दादिविषयेभ्यो निगृहीतस्य अन्तःकरणस्य श्रवणादौ तदनुगुणेषु तदुपकारकेषु अमानित्वादिसाधनविषयेषु समाधिः नैरन्तर्येण तच्चिंतनं समाधानम्। समाधिः ऐकाग्र्यं तत्परत्वमिति यावत्। इदमित्थमेव नान्यथेति गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु निश्चिता बुद्धिः सा श्रद्धा। अन्तिमं साधनं लक्षयति—मुमुक्षुत्वमिति। मोक्षो नाम विद्यानिरस्ताऽविद्यातत्कार्यस्य ब्रह्मात्मनावस्थानम्। तद्विषयेच्छा मोक्षेच्छा तद्वत्त्वं मुमुक्षुत्वमित्यर्थः। ननु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति ……।" इति श्रुतेः सर्वकामविमुक्तस्य मोक्षाधिकारात् कथमिच्छाया अधिकारिविशेषणत्वमिति चेत्, नात्र दोषः। अनात्मविषयेच्छाया एव कामत्वात् तदभिप्राया श्रुतिः। मोक्षेच्छा

यास्तु आत्मविषयतया अकामत्वात् "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकाम" इति श्रुतेः आत्मकामस्य आप्तकामत्वेन अकामत्वावगमात्। पूर्वोक्तसकलविशेषणविशिष्टः प्रमाता अधिकारी। एवं विशेषणविशिष्टो वेदान्ताधिकारीति निरूपितेऽर्थेऽभियुक्तवचनमुदाहरति उक्तं च—इति। प्रशान्तचित्ताय शान्ताय। जितेन्द्रियाय दान्ताय। प्रहीणदोषाय नितान्तनिर्मलस्वान्ताय। यथोक्तकारिणे काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यानुष्ठानलब्धेश्वरप्रीतये। गुणान्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय। सर्वदा गुरुम् अनुगताय श्रद्धालवे एवंभूताय मुमुक्षवे एतदात्मज्ञानं सततं गुरुणा देयमिति श्लोकार्थः। देवमधिकार्यनुबन्धो निरूपितः॥ ७॥

(ङ) अतः परं विषयानुबन्धं निरूपयति विषय इति। अविद्याध्यारोपितसर्वज्ञत्व-किंचिज्ज्ञत्वादिविरुद्धधर्मपरित्यागेन अवशिष्टं शुद्धं चैतन्यं ज्ञेयस्वरूपमेव सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां विषयः क्षीरनीरवत् परस्परविभिन्नयोः समानाभिहारस्य ऐक्यशब्दार्थत्वात् जीवब्रह्मणोरपि स्वरूपतो भिन्नयोः ऐक्यं मिश्रीभाव इति शंका स्यात्, सा मा भूदिति व्याचष्टे—शुद्धचैतन्यमिति। चैतन्यस्य शुद्धत्वं सर्वधर्मातीतत्वम् एकरसत्वम्। ननु कथं शुद्धचैतन्यस्य विचारविषयत्वं, यावता प्रागपि विचारात् तत् स्वप्रकाशं स्वयमेवावभासत इत्याशंक्य स्वरूपेण अवभासमानत्वेऽपि परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यक्स्वरूपतया ज्ञायमानत्वाद् विषयत्वोपपत्तिः इत्यभिप्रेत्याह—प्रमेयमिति। प्रमेयत्वमज्ञातत्वम्। ननु प्रधानादीनामपि कपिलकणादादिस्मृतिसिद्धानां वेदान्तवाक्यविषयत्वात् कथं जीवब्रह्मैक्यस्य विषयत्वसंकीर्तनमिति तत्राह—तत्रैवेति। उपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैर्वेदान्ततात्पर्ये निरूप्यमाणे प्रत्यक्स्वरूपे ब्रह्मण्येव पर्यवसानदर्शनात् प्रत्ययन्ति चादर्शनात् ब्रह्मैव वेदान्तविषयः, न प्रधानादिरित्यर्थः।

तृतीयमनुबन्धमाह—सम्बन्धस्त्विति। बोध्यबोधकभावः। बोध्यस्य ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपस्य बोधकस्य वेदान्तशास्त्रस्य च बोध्यबोधकभाव एव सम्बन्धः। ननु कथं यथोक्तप्रमेयस्य उपनिषत्प्रमाणबोध्यत्वम् निर्धर्मके तस्मिन् शब्द-शक्तिगोचरत्वाऽयोगात् इति चेत् कोऽभिप्रायः? शब्दादिहीनस्य वाच्यत्वानुपपत्तिरुताऽसङ्गस्य लक्ष्यत्वानुपपत्तिः? आद्ये अनुक्तोपालम्भः। द्वितीये लक्षणावृत्त्याश्रयणेन ब्रह्मात्मैक्यप्रतिबोधः। चरममनुबन्धमाह—प्रयोजनं त्विति। ब्रह्मा-

त्मैक्यलक्षणचिन्मात्रगताऽज्ञानतत्कार्यसकलप्रपञ्चनिवृत्तिः पुनरुत्पत्त्यभावरूपा-स्वस्वरूपाखण्डानन्दसम्प्राप्तिः फलमित्यर्थः। ननु लोकेऽप्राप्तस्य क्रियासाध्यस्य स्वर्गादेः पुरुषार्थत्वेन फलत्वं दृष्टम्। अत्र तु नित्यप्राप्तस्य आत्मस्वरूपस्य क्रियासाध्यत्वाभावेन पुरुषार्थत्वाभावात् कथं फलत्वमिति चेन्न। क्रियासाध्य-स्यैव पुरुषार्थत्वनियमाभावात्। यथा लोके कस्यचिद् विस्मृतकण्ठमणेः तत्प्र-युक्तशोकाग्निसन्दह्यमानस्य आप्तोपदेशोत्तरकालं स्वकण्ठगतचामीकरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् फलत्वं दृष्टम्, (अयमेव कण्ठचामीकरन्यायः)। एवमेव अत्रापि नित्यप्राप्तस्य आत्मनः अज्ञानमोहान्धकारावृतत्वेन विस्मृतस्वस्वरूपस्य पुरुषस्य गुरुश्रुतिवाक्यश्रवणानन्तरमज्ञानमोहान्धकारनिवृत्तौ सत्यां स्वयंप्रकाशमानचिद्रू-पस्य सिद्धस्यैवात्मनः फलत्वमुपचर्यते। अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिः प्रयोजनमित्ये-तावत्युक्ते समूलदुःखोन्मूलनलक्षणं वैशेषिकाभिमतं प्रयोजनमभ्युपगतं प्रति-भायात्, तन्माभूदिति विशेषणान्तरोपादानम्। अज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च प्रयोजनमित्युक्ते नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्निःशेषदुःखोच्छित्तिश्च प्रयोजन-मिति भाट्टाभिमतं प्रयोजनं प्रतिभायात्, तन्माभूदिति तत्स्वरूपेत्युक्तम्। विचारजन्यज्ञानस्य उक्तोभयविधं प्रयोजनमित्यत्र क्रमेण श्रुती प्रमाणयति 'तरती'-त्यादिना। 'तरति शोकमात्मवित्'(छां०उ० ७-१-३) आत्मविद् भूमाख्यब्रह्मात्म-साक्षात्कारवान् शोकोपलक्षितसंसारमूलाऽज्ञानं तरत्यतिक्रामतीत्यर्थः।'ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक उ. ३-२-९) यः कश्चिद् ब्रह्म परमात्मानं प्रत्य-ग्रूपं वेदं साक्षात्करोति स ब्रह्मैव भवति तद्रूप एव भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

विमला—(क) वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी वही होगा, जिसने (१) इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में समस्त वेद तथा वेदाङ्गों (शिक्षा-कल्प-व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का अध्ययन कर उसके अर्थ को आपाततः (साधारणतया) जान लिया हो, (२) तथा इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में जिसने काम्यकर्मों तथा निषिद्धकर्मों का अनुष्ठान न कर केवल नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म, प्रायश्चित्त एवं उपासनाकर्म के अनुष्ठान से समस्त पाप (अन्तःकरण के मल) नष्ट हो जाने के कारण अपने अन्तःकरण को निर्मल (मल-रहित) बना लिया हो, (३) और जिसने साधनचतुष्टय को (चार साधनायें) सम्पन्न कर लिया हो वही प्रमाता प्रमाण के द्वारा ब्रह्मरूप

प्रमेय को जानने का इच्छुक (वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी) होता है।

व्युत्पत्ति:—१-अधिगताखिलवेदार्थ:—अधिगत:=अवगत: अखिल:=सम्पूर्ण: वेदार्थ:=वेदाभिप्राय: येन स:। निर्गतनिखिलकल्मषतया—निर्गतानि=दूरीभूतानि निखिलानि=समग्राणि कल्मषाणि=मलानि यस्य स: निर्गत-निखिलकल्मष:, तस्य भावो निर्गतनिखिलकल्मषता, तया।

२—नितान्तनिर्मलस्वान्त:—नितान्तम्=अत्यन्तम् निर्मलम्=मलरहितं स्वान्तम्=अन्त:करणम् हृदयमितियावत् यस्य स:।

३—साधनचतुष्टयसम्पन्न:—साधनानाम्=उपायानां चतुष्टयम्=चतुस्संख्या इति साधनचतुष्टयं, तेन सम्पन्न:=युक्त:।

अधिकारी—ऊपर कहे गये तीन विशेषणों से युक्त जीवात्मा (वास्तविक-ब्रह्मजिज्ञासु प्रमाता) ही वेदान्तविद्या के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है॥ (क)

काम्य, निषिद्ध, तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रत्यवाय प्रायश्चित्त कर्मों के स्वरूप को क्रमश: बता रहे हैं।

विमला—(ख) अभिलषित स्वर्गलोक आदि के साधन (उपाय) भूत ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ—काम्यकर्म हैं। नरक आदि अनिष्ट (अनभिलषित) स्थानों की प्राप्ति में निमित्त (साधन) बननेवाले ब्राह्मणहत्या आदि-निषिद्ध कर्म हैं। अनुष्ठान न करने पर प्रत्यवाय (पाप या हानि) के निमित्त (साधन) होने वाले सन्ध्यावन्दन आदि—नित्यकर्म हैं। पुत्रजन्म आदि निमित्त के प्राप्त होने पर अनुष्ठान किये जाने वाले 'जातेष्टि' आदि कर्म—नैमित्तिक कर्म हैं। पापों को नष्ट करने में हेतुभूत चान्द्रायण आदि व्रत—प्रायश्चित्त कर्म हैं। सगुणब्रह्म में दीर्घकाल तक मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिए किये जाने वाले कर्म—उपासना कर्म हैं। जैसे शाण्डिल्य-विद्या आदि।

व्युत्पत्ति:—काम्यानि—किसी कामना से किये जाने वाले कर्म को काम्यकर्म कहते हैं।

निषिद्धानि—जिन कर्मों से पाप और उसके फलस्वरूप नरक आदि दुःखद स्थान प्राप्त होते हैं, उन कर्मों को निषिद्ध कर्म कहते हैं।

नित्यानि—जिन कर्मों के करने से यद्यपि पुण्यादिफल की प्राप्ति नहीं होती तथापि उन कर्मों के न करने पर पाप और उसका फल अवश्य मिलता है, ऐसे कर्मों को नित्यकर्म कहते हैं।

नैमित्तिकानि—धर्मशास्त्रों के द्वारा किसी निमित्त को उद्देश्य कर जिन कर्मों का विधान अवश्य कर्तव्य के रूप में किया जाता है, उन्हें नैमित्तिक कर्म कहते हैं।

प्रायश्चित्तानि—निषिद्धकर्मों के अनुष्ठान से तथा शास्त्रविहित कर्मों के न करने से जो पाप होता है उसे दूर करने के लिए किये जाने वाले कर्मों को प्रायश्चित्तकर्म कहते हैं। जैसे—चान्द्रायणव्रत, यह एक प्रकार का उपवास है। शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की प्रतिदिन एक-एक कला की वृद्धि के अनुसार एक-एक ग्रास का भोजन बढ़ाया जाता है और कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की एक-एक कला के क्षय के अनुसार भोजन में एक-एक ग्रास कम किया जाता है। प्रत्येक महीने में पन्द्रह-पन्द्रह दिन के दो पक्ष होते हैं। पूर्णिमावाले पन्द्रह दिन को शुक्ल पक्ष कहते हैं और अमावस्या वाले पन्द्रह दिन को कृष्ण पक्ष कहते हैं।

उपासना—मानसिक व्यापार (ध्यान) को उपासना कहते हैं। इसमें ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। जैसे—शांडिल्यविद्या आदि। इसमें जगत और आत्मा को ब्रह्मरूप से उपासना करने को शाण्डिल्य ऋषि ने कहा है, इसलिए इसे शाण्डिल्यविद्या कहते हैं। यह छान्दोग्य उपनिषद् (३।१४।१.२) में बताई गई है। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण तथा बृहदारण्यक में भी अन्यान्य उपासनाओं को बताया गया है॥

अब नित्य—नैमित्तिक और प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों के प्रधान और अप्रधान फलों को बताते हैं—

विमला—(ग) ऊपर बताये गये नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्मों का परम (मुख्य) प्रयोजन (फल) बुद्धि की शुद्धि (निर्मलता) होना है। किन्तु उपासना रूप कर्मों का परम प्रयोजन चित्त की एकाग्रता होना है।

श्रुति-स्मृति के द्वारा भी उक्त अभिप्राय का समर्थन किया गया है—"उपनिषदों में वर्णित उस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन और यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं"—(बृ० आ० उ० ४।४।२२) श्रुति और "तपस्या के द्वारा (ब्राह्मण) पाप का विनाश कर देता है"—(मनु० १२।१०४) स्मृति है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर (अप्रधान गौण) प्रयोजन (फल) पितृलोक की प्राप्ति है। तथा उपासनारूप कर्मों का अवान्तर फल सत्यलोक की प्राप्ति है। उक्त अभिप्राय का समर्थन श्रुति ने भी किया है—"कर्म से पितृलोक तथा विद्या (उपासना) से सत्यलोक (देवलोक) की प्राप्ति होती है।" (बृ० आ० उ० १।५।१६) इत्यादि।

व्युत्पत्तिः—विविदिषन्ति—वेत्तुम् इच्छन्ति=जानना चाहते हैं। (विद् + + सन् + अन्ति)। भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य के अद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार कर्मानुष्ठान (कर्मकाण्ड) मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है, किन्तु परम्परया साधन है। यह मुमुक्षु व्यक्ति को ज्ञान अथवा जिज्ञासा तक ले जाने वाला मार्ग (सोपान) मात्र है। इनके सिद्धान्त में एकमात्र ज्ञान से ही मोक्ष होता है, "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्", "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"

अवान्तर फलम्—आम के पेड़ आम्र-फल पाने के उद्देश्य से लगाये जाते हैं किन्तु घाम से तप्त हुए पथिक लोग उसकी छाया को भी पा लेते हैं। किन्तु छाया को प्राप्त करवाना पेड़ लगाने वाले का मुख्य उद्देश्य नहीं था, छाया का प्राप्त होना तो गौण (अवान्तर) फल है। मुख्य फल तो आम्र-फलों को प्राप्त करना ही है। उसी प्रकार नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त-कर्मों का 'चित्तशुद्धि' मुख्य फल है और 'पितृलोक-प्राप्ति' गौण (अवान्तर) फल है। उसी प्रकार उपासना का मुख्य फल 'चित्त की एकाग्रता' है और अवान्तरफल (गौण) 'सत्यलोक की प्राप्ति' है।

देवलोक—(सत्यलोक) यह पृथ्वीलोक से ऊपर स्थित सात लोकों में सबसे ऊपर स्थित है। सत्यलोक का अर्थ मोक्ष नहीं है॥ (ग)

विमला—(घ) पहले बता चुके हैं कि "साधन चतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी है।" अतः 'साधनचतुष्टय' जानने की इच्छा हो उठती है कि

वे चार साधन कौन-कौन हैं ? उसी के उत्तर में बताया जा रहा है—वे साधन (१) नित्याऽनित्यवस्तुविवेक, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग, (३) शमदमादिषट्कसम्पत्ति और (४) मुमुक्षुत्व ।

(१) नित्यवस्तु तो एक मात्र ब्रह्म ही है । उस (ब्रह्म) से भिन्न सभी अनित्य हैं, यह विचार करना (सोचना) ही नित्याऽनित्यवस्तुविवेक अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तुओं (पदार्थों) का विवेक है ।

(२) इस लोक में प्राप्त होने वाले (उपलब्ध होने वाले) माला, चंदन और कान्ता आदि विषयों के भोग, जैसे कर्म के फलरूप (परिणाम) होने के कारण अनित्य हैं, वैसे ही परलोक में उपलब्ध होने वाले अमृत, अप्सरा आदि विषयभोग भी (यज्ञादि कर्मों के फल (परिणाम) होने के कारण) अनित्य हैं, इस प्रकार विचार कर उन (विषयों) से अत्यन्त विरति (वितृष्णा) का होना अर्थात् ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फलों के भोग से विरक्ति (विराग) ही इहाऽमुत्रार्थफलभोगविराग है ।

(३) शमादि (षट्कसम्पत्ति) ये हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, और श्रद्धा । (वेदान्त का) श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य विषयों से अपने मन (चित्त) को हटा (मोड़) लेना ही शम है । (श्रवण आदि) बाह्येन्द्रियों को उन (वेदान्त वाक्यों के श्रवण आदि) के अतिरिक्त अन्य विषयों से हटा लेना ही दम है । (अपने-अपने विषयों से) हटा लिये गये इन बाह्य इन्द्रियों का उन (वेदान्त श्रवणादिविषयों) के अतिरिक्त विषयों से उपरत अर्थात् अन्यान्य सांसारिक विषयों की ओर से विमुख यानी उत्साह रहित हो जाना ही उपरमण है, उसीको उपरति कहते हैं । अथवा शास्त्रविहितकर्मोंका शास्त्रविधिके अनुसार ही परित्याग अर्थात् संन्यासग्रहण करने को भी उपरति कहते हैं । सुख-दुःख, जय-पराजय, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों की सहनशक्ति को तितिक्षा कहते हैं । निगृहीत (वश में) किये हुए मन को श्रवण आदि में और श्रवण आदि के अनुकूल विषयों में एकाग्र कर लेने को समाधि कहते हैं । गुरु के द्वारा उपदेश किये वेदान्त-वाक्यों में विश्वास करना ही श्रद्धा है ।

(४) मोक्ष की इच्छा का होना ही मुमुक्षुत्व है। इनसे युक्त प्रमाता 'शम से युक्त, दम से युक्त....' (बृहदा० उप० ४।४।२२) इस श्रुति के अनुसार (ब्रह्मविद्या का) अधिकारी होता है। इसी अभिप्राय को वेदान्तग्रन्थों में कहा भी गया है —

अन्वय:—प्रशान्तचित्ताय, जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय, यथोक्तकारिणे, गुणान्विताय, च, अनुगताय, मुमुक्षवे, सर्वदा, एतत्, सकलम्, प्रदेयम् ॥

अर्थ—प्रशान्तचित्ताय=शान्तचित्तवाले, जितेन्द्रियाय=इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले, प्रहीणदोषाय=पाप रहित अर्थात् निष्पाप हुए, यथोक्तकारिणे=शास्त्रानुसार तथा गुरु की आज्ञा का पालन करने वाले, गुणान्विताय=विवेक, वैराग्यादि गुणों से सम्पन्न हुए, च=तथा, अनुगताय गुरु के अनुकूल रहने वाले, मुमुक्षवे=मोक्ष की इच्छा रखने वाले, व्यक्ति को, सर्वदा=सदा, एतत्=यह, सकलम्=सम्पूर्ण (ब्रह्म ज्ञान), प्रदेयम्=देना चाहिये। (उपदेश साहस्री १६।७२)।

व्युत्पत्ति:—साधनचतुष्टयम्—(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक। उससे (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग। उससे (३) शमदमादिषट्कसम्पत्ति। उससे (४) मुमुक्षुत्व होता है। अर्थात् पहिला पहिला साधन अपने अगले अगले साधन का कारण है।

इहामुत्रार्थफलभोगविराग:—इह=इस लोक में, अमुत्र=परलोक में।

अर्थ—पदार्थ, वस्तु, विषय ही फल हैं। इनके उपभोग करने में विराग=उदासीनता प्राप्त होना। इस लोक में तथा परलोक में प्राप्त होने वाले फलोपभोग कर्म से उत्पन्न होने के कारण क्षीण हो जाते हैं अत: वे सब अनित्य हैं, यह सोच कर उनसे विरक्त हो जाना ही वैराग्य है।

विधिना परित्याग:—शास्त्रप्रतिपादितमार्ग से विहित कर्मों का त्याग किया जाता है। मनु के कथनानुसार 'प्राजापत्ययज्ञ' करके संन्यास दीक्षा ली जाती है, तब विहित कर्मों का परित्याग किया जाता है। आलस्य या प्रमाद से किया हुआ कर्म त्याग वैध नहीं है, अर्थात् अवैध है।

"प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मण: प्रव्रजेद् गृहात् ॥ (मनु० ६।३८)

विवेक—वैराग्य—शमादिसाधनत्रय से सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में मोक्षेच्छा अवश्य ही उत्पन्न होगी। उसके उत्पन्न होने पर ब्रह्म-जिज्ञासा का होना अनिवार्य है। अतः साधनचतुष्टयसम्पन्न जीवात्मा ही वास्तव में ब्रह्मजिज्ञासु है और वही वेदान्तविद्या (ब्रह्म-विद्या) का अधिकारी है। इस प्रकार 'अधिकारी' संज्ञक प्रथम अनुबन्ध का निरूपण किया गया ॥ (घ)

विमला—(ङ) अब विषयादि अन्य अनुबन्धों का निरूपण करते हैं—

द्वितीय (२) अनुबन्ध (वेदान्तशास्त्र का) विषय है—वह (विषय) जीव और ब्रह्म की एकता है। वह एकता शुद्धचैतन्यरूप है। वही वेदान्त-शास्त्र का प्रमेय है। जीव और ब्रह्म की एकता में ही समस्त वेदान्तग्रन्थों का तात्पर्य है। अर्थात् समस्त वेदान्तग्रन्थ जीव—ब्रह्म की एकता का ही प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव और ब्रह्म में अविद्या के कारण आध्यारोपित जो किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादि परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, उनका परि-त्याग करने पर शुद्धचैतन्य शेष रहता है, वही जीव-ब्रह्म की एकतारूप शुद्ध-चैतन्य समस्त वेदान्तग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है।

तीसरा (३) अनुबन्ध—जीव-ब्रह्मैक्यरूप प्रमेय और उसके प्रतिपादक उपनिषद् दोनों का बोध्य-बोधकभाव (प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, प्राप्य-प्रापक-भाव) सम्बन्ध है। जीवब्रह्मैक्य, बोध्य (प्रतिपाद्य, प्राप्य) है और उसके प्रतिपादक (बोधक, प्रापक) 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद्वाक्य बोधक (प्रापक) है।

चतुर्थ (४) अनुबन्ध—प्रयोजन है। जीव-ब्रह्मैक्य (जीव और ब्रह्म की एकता) रूप प्रमेय के सम्बन्ध में जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति और वास्तविक आनन्दस्वरूप की प्राप्ति होना, यही वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है। उक्त अभिप्राय का समर्थन श्रुतियों ने भी किया है। "आत्मज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति शोक को अर्थात् शोकग्रस्त इस संसार के हेतु भूत अज्ञान को पार कर जाता है।" (छां० उ० ७।१।३) और "ब्रह्म को यथार्थरूप से जानने वाला व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाता है"—(मुण्डक उ० ३।२।९) इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥ ८ ॥

व्युत्पत्तिः—जीवब्रह्मैक्यम्—जीवश्च ब्रह्म च इति जीवब्रह्मणी, तयोः ऐक्यम्।

शुद्धचैतन्यम्—समस्त उपाधियों तथा समस्त धर्मों से रहित हुए चैतन्य को शुद्धचैतन्य कहते हैं।

जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यम्—यदि केवल जीवब्रह्मैक्य (जीव और ब्रह्म की एकता) को ही वेदान्तशास्त्र का प्रमेय तथा विषय कहें अर्थात् 'शुद्ध-चैतन्य' इतना अंश न कहें तो इस एकता को लोग क्षीर-नीर की तरह समझने लगेंगे। किन्तु यह एकता क्षीर-नीर के समान नहीं है अपितु जीव-ब्रह्म की एकता तो शुद्धचैतन्यरूप है। शुद्धचैतन्य की ही एकता शुद्धचैतन्यरूप हो सकती है।

जीव और ब्रह्म दोनों ही समस्त धर्मों तथा उपाधियों से रहित होने के कारण शुद्धचैतन्यस्वरूप हैं। उनकी यह भिन्नता तो औपाधिक है अर्थात् वास्तविक नहीं है।

प्रमेयम्—प्रमा का अर्थ है यथार्थज्ञान। उसका जो विषय होता है उसे प्रमेय कहते हैं। उसका (प्रमेय का) ज्ञान प्रमाणों के द्वारा प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञेय (ज्ञातव्य) वस्तु को प्रमेय कहते हैं।

तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्—जीव और ब्रह्म की एकता बताने में ही वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य प्रतीत होता है। वाक्य के तात्पर्य का निर्धारण करने में छह प्रकार के लिङ्ग (हेतु, कारण) होते हैं। तात्पर्य-निर्धारक वे छह लिङ्ग ये हैं—

(१) उपक्रम तथा उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद, (६) उपपत्ति ॥ ८ ॥

ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्रह्मजिज्ञासु अधिकारी पुरुष के कर्तव्य को बता रहे हैं।

(शिष्यस्य गुरोश्च कर्तव्य-प्रदर्शनम्)

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो प्रदीप्त-शिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुप-सृत्य तमनुसरति "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इत्यादि-श्रुतेः। स परमकृपयाध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह" इत्यादिश्रुतेः ॥ ९ ॥

सारबोधिनी—शास्त्रारम्भे निमित्तस्य अधिकार्यादिनिरूपणस्य अनन्तरं शास्त्रारम्भ प्रस्तौति। अथवा लक्षितस्य अधिकारिणः कर्तव्यं दर्शयति—अयमधिकारीति। साधनचतुष्टयसम्पन्नो विज्ञातविषयादिमानात्मयाथात्म्यजिज्ञासुः बुद्धिसन्निहितोऽधिकारी गुरुमुपसर्पति। ननु संसारासक्तचित्तस्य विषयलोलुपस्य आर्तिरहितस्य गुरूपसर्पणमयुक्तमित्याशङ्क्याह—संसारानलसन्तप्त इति। सन्तापे हेतुमाह—जननेति। आदिशब्देन व्याध्यादयो गृह्यन्ते। निदाघमध्याह्नार्कमरीचिसन्तप्तमस्तकः सन्तापनिवृत्तिकामः यथा शीतलं जलराशिमनुसरति, तथा संसारतापत्रयेण दन्दह्यमानस्तन्निवृत्तिकामः स्व—स्वरूपजिज्ञासुः संसारनिवर्तकं श्रोत्रियं वेदवेदाङ्गपारगं ब्रह्मनिष्ठं औपनिषदब्रह्मात्मविज्ञानपरिपूर्णं करतलस्थितामलकवत् स्वप्रकाशात्मस्वरूपसमर्पकं गुरुमुपसृत्य गुरोः समीपं गत्वा तम् अनुसरति मनोवाक्कायकर्मभिः सेवते। उपसरण समीपगमनम्, अनुसरणम् अनुवृत्तिरिति द्वयोर्भेदः। 'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्' इतिवचनमाश्रित्य उपहारपाणिरिति शिष्यविशेषणम्। श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति च गुरोर्विशेषणम्। अस्मिन्नर्थे श्रुतिमुदाहरति—समित्पाणिरिति। (मुण्डक १।२।१२)। उक्तविधिना यथोक्तगुरुसर्पणं विद्यार्थिना अवश्यं कर्तव्यमितिश्रुतेराशयः। समिच्छब्दो गुरोरनुरूपोपायनमात्रोपलक्षणपरः। शिष्योपसर्पणानन्तरं गुरोरुपदेशक्रममाह—स परमेति। सः पूर्वोक्तो गुरुः एनं शिष्यमुपदिशति। परमरहस्यमपि ब्रह्मस्वरूपं परमकृपया प्रपन्नजनक्लेशदर्शनजातकरुणया तन्मतिप्रकाशनप्रवृत्त्या वा उपदिशति, कृपाव्यतिरेकेण हेत्वन्तराभावात्। तथा चोक्तमभियुक्तैः—'एतदवेहि दयालुलक्षणं, यद्विनेयजनबुद्धिवर्धनम्' इति। ननु अखण्डस्य ब्रह्मस्वरूपस्य अगोचरत्वेन उपदेष्टुमशक्यत्वात् गुरुः कथं तदुपदिशति? इत्यत आह—अध्यारोपेति। अखण्डब्रह्मस्वरूपस्य अगोचरत्वाद् विधिमुखेन उपदेष्टुमशक्यत्वेऽपि "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृहदा० उ० ४।४।१९) इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य अविद्यारोपितमिथ्यानानापदार्थनिषेध—(पदार्थाऽपवाद)मुखेन उपलक्षितमखण्डचैतन्यमेव पुनः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—(तैत्ति० उ० २।१।५) इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य लक्षणया विधिमुखेनापि उपदिशति। तत्र श्रुतिम्प्रमाणयति—'तस्मै स०' इति (मुण्डक उ० १।२।१३)॥ ९॥

विमला—जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से अत्यन्त सन्तप्त हुआ (माथा गरम हुआ) व्यक्ति अपना सन्ताप शान्त करने के लिए जलपूर्ण सरोवर की ओर जाता है, उसी प्रकार उक्तलक्षणों से लक्षित (ब्रह्मविद्या का) यह अधिकारी जन्म-मरण रूप संसार के त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) दुःखों से पीड़ित होने के कारण वेद-वेदान्तपारगामी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप उसके अनुरूप उपहार (भेंट) लेकर जाता है और बड़ी श्रद्धा के साथ उनके उपदेशों का श्रवण करता हुआ मन, वाणी तथा शरीर से उनकी सेवा करता है। श्रुति ने भी यही कहा है—"(ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए) समिधाओं (हवन के योग्य लकड़ियों) को हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए"—(मुण्डक १।२।१२)। वह (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु) अत्यन्त दयालु होने के कारण अध्यारोपापवादन्याय (अध्यारोप और अपवाद के द्वारा) से उस समीप आये हुए शिष्य को (ब्रह्मरूप परम रहस्य का) उपदेश देता है। इसी प्रकार श्रुति ने भी कहा है—"वह (गुरु) अपने समीप आये हुए शिष्य को (ब्रह्मज्ञान का) उपदेश देता है।" (मुण्डक उ० १।२।१३)॥

व्युत्पत्तिः —जनन-मरणादिसंसारानलसन्तप्तः —जनन-मरणादिरेव संसारः, स एव अनलः अग्निः, (अग्निवद्दाहकत्वात् संसारे अनलत्वारोपः) तेन तप्तः।

दीप्तशिराः—दीप्तं=सन्तप्तं शिरः=खल्वाटमस्तकं यस्य सः।

उपहारपाणिः—उपहारः=उपायनं, देयं वस्तु पाणौ हस्ते यस्य सः। राजा देवता, गुरु के समीप खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। महाभारत में 'रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं ब्राह्मणं स्त्रियम्' इस प्रकार का वाक्य उपलब्ध होता है।

समित्पाणिः—समिधः पाणौ यस्य सः। समिध् शब्द यहाँ पर गुरु के कार्योपयोगी वस्तुओं का उपलक्षक है।

श्रोत्रियम्—श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते। वेदाध्ययन करने वाले को श्रोत्रिय कहते हैं। अर्थात् सांग-वेद तथा वेदान्तार्थ का पारगामी विद्वान्।

ब्रह्मनिष्ठम्—ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सः। ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान जिसके अनुभव में आ रहा हो।

अध्यारोपापवादन्यायेन—नीयते प्राप्यते-विवक्षितार्थसिद्धिः अनेन इति न्यायः प्रणाली, रीतिः, पद्धतिः। अध्यारोप और अपवाद की पद्धति से। सत्य (वास्तविक यथार्थ) में असत्य (अवास्तविक, अयथार्थ) का भ्रम होना—अध्यारोप है जैसे—शुक्ति में रजत का, रस्सी में सर्प का भ्रम होना। भ्रम के समय शुक्ति, रस्सी वास्तविक (सत्य) है और रजत, सर्प अवास्तविक (असत्य) रहता है। उसी प्रकार मिथ्यारोपण या मिथ्याविश्वास का निराकरण—अपवाद है, (अप+वद्+घञ्)। अर्थात् भ्रम का निषेध। जैसे शुक्ति में रजत के भ्रम का या रस्सी में सर्प के भ्रम का निषेध (निराकरण) करके शुक्ति का या रस्सी का वास्तविक रूप (यथार्थरूप) से ज्ञान हो जाना अपवाद है॥ ९॥

पूर्वोक्त अध्यारोपापवादन्याय के अध्यारोप का दृष्टान्तपूर्वक लक्षण बता रहे हैं—

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इत्यादिश्रुतेश्च॥ १०॥

सारबोधिनी—अध्यारोपं लौकिकदृष्टान्तेन बोधयति—असर्पभूतायामिति। व्यावहारिकवस्तुरूपेण सम्मतायां रज्जौ अवस्तुरूपसर्पारोपः, अर्थात् रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यस्था अविद्या सर्पज्ञानाभासाकरेण परिणममाना सर्पाकारेण विवर्तते, स विवर्तः रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाऽविद्योपादानकत्वेन 'नायं सर्पः किन्तु रज्जु' इति विशेषदर्शनोत्तरकाले अधिष्ठानरज्जुसाक्षात्कारेण रज्जुविषयकाज्ञाननिवृत्तौ निवर्तते। अर्थात् सर्पभ्रान्तिः (रज्जुविवर्तः) निवर्तते। अयमेव विवर्तः अध्यास इत्युच्यते। तथा चोक्तम्—

"यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यास इत्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥"

अर्थात् अतस्मिन् तद्बुद्धिः आरोपः अध्यारोपो वा। कस्मिंश्चिद् वस्तुनि तत्समानस्य अवस्तुनो भ्रम इत्यर्थः। किन्तु अधिष्ठानसाक्षात्कारेण भ्रमो निवर्तते। तथैव सच्चिदानन्दाद्वये वस्तुभूते ब्रह्मणि अज्ञानतत्कार्याऽखिलजड-समूहस्यावस्तुनः अध्यारोपो भवति, किन्तु अधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणः साक्षात्कारे सति तत्र भासमानो जगद्भ्रमो निवर्तते। तत्र कालत्रयेऽपि अविनाशी आत्मा (ब्रह्म) एव वस्तुशब्दार्थः। अवस्तुनः स्वरूपमाह—अज्ञानादिति। अज्ञान-तज्जन्याकाशादिप्रपञ्चस्य मिथ्यात्व-दृश्यत्व-सादयवत्व-विकारित्व-सापेक्षसिद्धि-कत्वेत्यादिबहुभिर्हेतुभिः अवस्तुत्वं सिद्ध्यति। एतदेव विस्तरेण प्रतिपादयितु-मज्ञानस्य स्वरूपमुच्यते—अज्ञानं त्विति। किमिदमज्ञानं सद्रूपमसद्रूपं वा? शशविषाणतुल्यत्वेन तुच्छत्वात् तत् 'सद्रूप'मिति वक्तुं न शक्यते। यदि सद्रूपं चेत् तर्हि ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं तस्य बाधो न स्यात्, किन्तु जाते ब्रह्म-साक्षात्कारे तस्य बाधो भवति। अतः अज्ञानं न सत्। नापि तत् असदिति वक्तुं शक्यते। यदि तत् असत् चेत् तर्हि तस्य प्रतीतिर्नाभविष्यत्, किन्तु तस्य प्रतीतिर्भवति। अतः कथं तस्य असत्त्वं वक्तुं शक्यम्। यदि अज्ञानमसत् स्यात् तर्हि तस्य जडपदार्थाऽऽभासकारणत्वं नोपपद्येत। अतः सत्त्वेन असत्त्वेन वा न तन्निरूपयितुं शक्यते इत्यत आह अनिर्वचनीयमिति। तथा चोक्तम् "सन्नाऽप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाऽप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिका नो। साङ्गाऽप्यनङ्गाऽप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा।" ननु अज्ञानस्य अनिर्वचनीयत्वे सर्वथा ज्ञातुमशक्यत्वात्तदभावप्रसङ्गमाशङ्क्याह—त्रिगुणात्म-कमिति। "अजामेकां"—(श्वेता० उ० ४।५) इत्यादिश्रुतिभिः सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मकत्वप्रतिपादनात् अज्ञानस्य त्रिगुणात्मकत्वम्। ननु अजस्य अज्ञानस्य श्रुतिप्रसिद्धस्य व्योमादिरूपेण विततस्य सत्यवद्भासमानत्वेन संसारस्य अनिवृत्तिमाशङ्क्याह—ज्ञानविरोधीति। एतादृशमपि अज्ञानमात्म-साक्षात्कारेण (ब्रह्मज्ञानेन) निवर्तते। तथा चोक्तं भगवता—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" इति।

ज्ञानाभाव एव अज्ञानमिति तार्किकमतं निराकरोति—भावरूपमिति। अज्ञानस्य त्रिगुणात्मकत्वे भावरूपत्वेऽपि 'इदमित्थमेव' इति पिण्डीकृत्य दर्शयितुं न शक्यत इत्याह—यत्किञ्चिदिति। तदज्ञानं किमपि अघटितघटनापटीयः। अनिर्वचनीयस्य अनादिभावरूपस्य अज्ञानस्य सद्भावे अनुभवमेव उदाहृत्य दर्शयति–अहमज्ञ इति। 'अहमज्ञः', 'मामहं न जानामि' इति अपरोक्षावभास एव प्रमाणम्। श्रुतिरपि एतदेव समर्थयति—देवात्मशक्तिमिति ॥ १० ॥

विमला—वास्तव में जो सर्प नहीं है उसे असर्पभूतरज्जु (रस्सी) में सर्प के आरोप (भ्रम) के समान वस्तु (यथार्थ) में अवस्तु (अयथार्थ) का आरोप (भ्रम) होना ही 'अध्यारोप' शब्द से कहा जाता है। उसी के समान ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी अध्यारोप में सत्, चित्, आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही वस्तु है। अज्ञान से उत्पन्न सम्पूर्ण जड़ पदार्थ अवस्तु (अवास्तविक; अयथार्थ, मिथ्या) है। उक्त अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए 'अज्ञान' का स्वरूप बताते हैं–'अज्ञानं तु। अज्ञान तो न सत् है और न असत् है, क्योंकि यदि वह सत् होता तो सर्वदा और सर्वत्र रहता तथा कभी उसका बाध (नाश) न होता, किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार (ज्ञान, बोध) होने पर उसका विनाश हो जाता है। अतः अज्ञान को 'सत्' नहीं कह सकते। उसी तरह उसे (अज्ञान को) 'असत्' भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि वह 'असत्' होता तो इस प्रतीयमान जड़ जगत् का कारण कैसे होता? जिसकी सत्ता (अस्तित्व, विद्यमानता) ही नहीं, वह दूसरे का कारण कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह भी है कि जिसकी प्रतीति हो उसे असत् कैसे कहा जाय? इसलिए 'सत् चेत् न बाध्येत' और 'असत् चेत् त प्रतीयेत' उक्त नियम के अनुसार सत्त्व (सत्) और असत्त्व (असत्) दोनों से रहित होने के कारण अज्ञान को अनिर्वचनीय कहते हैं। यदि वह अनिर्वचनीय (सत् रूप से या असत् रूप से किसी प्रकार से भी जिसको नहीं बताया जा सकता) है तो उसका अभाव ही क्यों न मान लिया जाय? यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है, उसके समाधानार्थ "त्रिगुणात्मकम्' पद 'अज्ञान' के विशेषण के रूप में दिया गया है। यह विशेषण कपोल-कल्पित नहीं है, अपितु 'अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां' इस श्वेताश्वतरश्रुति के आधार पर दिया गया है। यह अज्ञान सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक है। अतः उसका (अज्ञान का)

अभाव कैसे माना जा सकता है। श्वेताश्वतर श्रुति के आधार पर अज्ञान को 'अज' (अनुत्पन्न, अजन्मा) भी कहा गया है, तब तो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त एवं सत्य के समान भासित होने के कारण उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ अज्ञान में दूसरा विशेषण 'ज्ञान-विरोधि' जोड़ दिया गया है। अर्थात् अज्ञान यद्यपि अज है, त्रिगुणात्मक है, तथापि ब्रह्म-साक्षात्कार होते ही वह नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता से उक्त कथन प्रमाणित है—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (गीता)। यह अज्ञान (अविद्या, माया) त्रिगुणात्मक है, भाव (सत्ता) रूप है तथापि उसे 'इदमित्थम्'=इसी प्रकार का यह है, ऐसा नहीं बताया जा सकता, इसीलिए उसे 'यत्किञ्चित्' कहा है। अर्थात् अद्भुत-शक्ति-युक्त वह कुछ विलक्षण ही है, क्योंकि वह न सत् है और न असत् है और न सदसदुभयरूप ही है, न सावयव है, न निरवयव है और न सावयव-निरवयवोभयरूप है। उसका वर्णन किसी भी रूप में न हो सकने से ही उसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है। उसके विषय में वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार कहते हैं—

'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो, मानेनात्यन्तमूढधीः।
स तु नूनं तमः पश्येद्, दीपेनोत्तमतेजसा ॥"

अज्ञान को जानने की इच्छा करना ठीक वैसा ही है जैसे अत्यन्त प्रकाश के द्वारा अन्धेरे को देखने की इच्छा करना। अज्ञान के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि वह अनिर्वचनीय तथा त्रिगुणात्मक, एवं ज्ञान का विरोधी और भाव (सत्ता) रूप है, जिसे 'कुछ' है ऐसा वेदान्ती लोग कहते हैं। वह 'ऐसा है' इस तरह अंगुलिनिर्देश के द्वारा कोई उसे बता नहीं सकता। इस प्रकार के अज्ञान में 'अहम् अज्ञः' मैं अज्ञ हूँ, 'माम् अहं न जानामि' मैं अपने को नहीं जानता हूँ—इस अनुभव को ही प्रमाण कह सकते हैं। उपनिषद् भी इसी बात को बताते हैं—"देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"—(श्वेता० उ० १।३) अर्थात् योगसाधना करने वालों ने सत्त्वादिगुणत्रय से आच्छन्न और स्वयंप्रकाश आत्मा की शक्ति (मायारूप) को अनुभवात्मक प्रत्यक्ष किया है। इस श्रुति से अज्ञान की भाव (सत्ता) रूपता सिद्ध हो जाती है ॥१०॥

व्युत्पत्ति—असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत्—मन्द अँधेरे से पूर्ण मार्ग में टेढ़ीमेढ़ी पड़ी रस्सी को देखते ही डर लगने लगता है और उसे सर्प समझ बैठते हैं, किन्तु कोई दूसरा व्यक्ति आकर वहाँ प्रकाश दिखा दे तो समझ में आ जाता है कि वह सर्प नहीं अपितु रस्सी है। रस्सी को साँप समझ लेना ही अध्यारोप है।

वस्तु—भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल तीनों कालों में नष्ट न होने वाली सत्, चित्, आनन्दरूप आत्मा (ब्रह्म) ही वस्तु है।

अज्ञानम्—श्रीशंकराचार्य ने अज्ञान के अर्थ में अविद्या, माया शब्द का भी प्रयोग किया है। तथा भगवान् की अव्यक्त शक्ति को माया कहा है। वह सत्त्वरजस्तमोगुण से युक्त होती है, उसकी सत्ता, कार्य से समझी जाती है। वह जगत् की उत्पादिका अनादि शक्ति है।

सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्—अज्ञान को न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही। यदि उसे सत् कहते हैं तो आत्मज्ञान से उसका नाश नहीं होना चाहिए। यदि उसे सत् कहते हैं तो आकाशपुष्प, वन्ध्यासुत, शशशृङ्ग के समान उसकी कदापि प्रतीति नहीं होनी चाहिए। किन्तु 'मैं अज्ञानी हूँ' यह प्रतीति सभी को होती है। अतः अज्ञान को सत् या असत् रूप से न बता सकने के कारण ही उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है।

त्रिगुणात्मकम्—सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मक बताते हैं। उसी तरह वेदान्तियों ने अज्ञान को त्रिगुणात्मक कहा है।

ज्ञानविरोधि—अज्ञान को आकाश की तरह व्यापक मानने पर उसकी निवृत्ति कभी होगी ही नहीं, ऐसी बात नहीं, व्यापक रहने पर भी उस अज्ञान की ब्रह्म (आत्मा) साक्षात्कार से निवृत्ति हो जाती है।

भावरूपम्—वेदान्तियों के मत में अज्ञान, ज्ञानाभावरूप नहीं है। अपितु ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। यदि अज्ञान ज्ञानाभावरूप होता, तो उसकी निवृत्ति की कोइ चर्चा ही न उठती। उसके भाव (सत्ता) रूप होने पर ही उसकी निवृत्ति संभव हो सकती है। अन्यथा नहीं।

यत्किंचित्—यद्यपि अज्ञान त्रिगुणात्मक है, भाव रूप है, तथापि वह 'ऐसा

ही है' 'यही है' इस प्रकार निश्चित नहीं बताया जा सकता। इसीलिए उसे 'यत्किञ्चित्' कहा है।

अज्ञान के सम्बन्ध में श्रुत्युक्त एकत्व और अनेकत्व के विरोधाभास को दूर कर रहे हैं।

(समष्टि-व्यष्टिरूपेण अज्ञानस्य भेदद्वयम्)

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि। यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशो "ऽजामेकाम्" इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति श्रुतेः। ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथाज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेश "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत" इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ

इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात् । अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात् अस्यापीयमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ॥ ११ ॥

सारबोधिनी—(क) अज्ञानस्य विभागं प्रदर्शयति—इदमिति । वस्तुतः अज्ञानमेकमेव, तथापि समष्टेरभिप्रायेण एकमिति व्यवह्रियते, व्यष्टेरभिप्रायेण च अनेकमिति व्यवह्रियते । एतदेव प्रपंचयति—तथा हीति । समुदायविवक्षया 'समष्टि'शब्दस्य व्यवहारः, प्रत्येकविवक्षया 'व्यष्टि'शब्दस्य व्यवहारः । यथा बहूनां वृक्षाणाम् समुदायविवक्षया 'वनमिति' एकत्वव्यवहारः, यथा वा बहुनद्यादिजलानां समुदायविवक्षया 'जलाशय' इति एकत्वव्यवहारो भवति, तथा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नानात्वेन प्रतीयमानानां जीवगताऽज्ञानानां समुदायविवक्षया 'अज्ञानमिति' एकत्वव्यवहारः । अस्मिन् अर्थे श्रुतिं प्रमाणयति अजामिति । (श्वेता. उ. ४.५) अनया श्रुत्या अज्ञानस्य एकत्वेन व्यपदेशः कृतोऽस्ति । 'इत्यादिश्रुतेः' अत्रादिपदात् 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'तरत्यविद्यां वितताम्' इत्याद्येकवचनान्तश्रुत्यन्तरपरिग्रहः । व्यष्ट्युपाध्यपेक्षया समष्ट्युपाधेर्वैलक्षण्यम् प्रदर्शयति— इयं समष्टिरिति । इयं समष्टिः उत्कृष्टोपाधितया उत्कृष्टश्चासौ उपाधिस्तस्य भावस्तया उत्कृष्टत्वञ्चात्र अखण्डत्वव्यवहारेण बोध्यम् । विगतरागादिदोषसकलकार्यप्रपञ्चस्य जगत्कारणभूतस्य अज्ञानस्य समष्टिभूतोत्कृष्टोपाधित्वेन विशुद्धसत्त्वप्राधान्यम् । अथवा—उत्कृष्टस्य जीवापेक्षया विशिष्टस्येश्वरस्य उपाधिस्तस्य भावस्तया विशुद्धसत्त्वप्राधान्यम् । विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानम् प्रबलं यस्याः सा तथाविधा इयं समष्टिः । अर्थात् रजस्तमसोः क्षीणसत्ताऽत्र सूचिता भवति । अज्ञानसमष्ट्युपाधिद्वारेण ईश्वरचैतन्यं लक्षयति—एतदुपहितमिति । एतादृशसत्त्वप्रधानया अज्ञानसमष्ट्या उपहितं चैतन्यं, सर्वस्य चराऽचरात्मकस्य प्रपञ्चस्य साक्षितया सर्वज्ञातृत्वेन सर्वज्ञ इत्युच्यते । तथा सर्वेषां जीवानां कर्मानुरूपेप्सितफलदातृत्वेन सर्वेश्वर इत्युच्यते । तथा सर्वेषां जीवानां प्रवर्तकत्वेन 'सर्वनियन्ता' इत्युच्यते । तथा सर्वेषां जीवानाम् अन्तर्हृदये स्थितत्वाद्बुद्धिनियामकत्वेन अन्तर्यामीत्यु-

ज्यते । सर्वस्य चराचरात्मकप्रपञ्चस्य विवर्ताधिष्ठानत्वेन तादृशस्य चैतन्यस्य जगत्कारणत्वमिति व्यपदिश्यते । एतदुक्तं भवति—सत्त्वगुणप्रधानया अज्ञानसमष्ट्या उपहितस्य चैतन्यस्य समस्ताज्ञानावभासकत्वात् तच्चैतन्यम् सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणैर्युक्तं सत् अव्यक्तान्तर्यामिजगत्कारणेश्वरादिनामभिर्विज्ञायते । अत्र प्रमाणमाह—"य: सर्वज्ञ: सर्ववित् ।" (मुण्ड. उ.१।१।९) इति । 'सर्वज्ञ:' सामान्यत:, 'सर्ववित्' विशेषत: इति भेद: । अर्थात् सामान्यरूपेण स सर्वं जानाति, विशेषरूपेणापि च न किञ्चित्तस्य अविदितं वर्तते । उपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वा उपाधेरपि व्यपदेशं सहेतुकमाह—ईश्वरस्येयमिति । तस्यैव ईश्वरस्य इयमज्ञानसमष्टि: (समुदायोपाधि:) एव सम्पूर्णप्रपञ्चस्य कारणम्, अत: सैव कारणशरीरमित्युच्यते । अस्मिन् समष्टिभूते अज्ञाने (तदुपहिते चैतन्ये) आनन्दस्य प्राचुर्यात् तत् समष्टिभूतमज्ञानमेव आत्मानं कोशवदाच्छादयति । अत: तदेव आनन्दमयकोष इत्युच्यते । अत्र आनन्दप्रचुरत्वमुपहितधर्म:, आच्छादकत्वमज्ञानधर्म:, तदुभयाविवेकात् कारणशरीरभूतमज्ञानमेव आनन्दमयकोशो वर्तते । कारणत्वावस्थायां प्रकृति-पुरुषमात्रव्यतिरिक्तस्य स्थूलसूक्ष्मकार्यप्रपञ्चस्यैव अभावात् आनन्दबाहुल्यमिति विज्ञेयम् । शरीराच्छादकचर्मवत् आत्माच्छादकत्वादज्ञानस्य कोश इति व्यवहार: । स्थूलसूक्ष्मोपाधीनां विलयस्थानत्वात् इयमज्ञानसमष्टि: 'सुषुप्ति:' (प्रलय:) महासुषुप्तिरित्युच्यते । अतएव (विलयस्थानत्वादेव) इयं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य (सृष्टे:) लयस्थानमप्युच्यते । स्थूलप्रपञ्चो विराट्, सूक्ष्मप्रपञ्चो हिरण्यगर्भ: । सर्वे आकाशादय: उपरमन्ते अस्मिन् इति सर्वोपरम: अज्ञानम् । ननु स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानस्य कथं सुषुप्तित्वमिति चेत् संज्ञाभेद:, न वस्तुभेद: ।

(ख) समष्टिरूपाज्ञानं सप्रपञ्चं निरूप्य इदानीं व्यष्टिभूतमज्ञानं सप्रपञ्चं निरूपयितुं दृष्टान्तौ प्रदर्शयति—यथा वनस्येति । यथा बहुवृक्षसमुदायस्य वनत्वेन रूपेण एकत्वव्यवहारेऽपि प्रत्येकवृक्षविवक्षया आम्रादयो बहवो वृक्षास्तिष्ठन्ति इति बहुत्वव्यवहार: । यथा वा वापीकूपतडागादिषु समुदायविवक्षया जलाशय इति एकत्वव्यवहारेऽपि प्रत्येक वाप्यादिविवक्षया बहूनि जलानि तिष्ठन्ति इति बहुत्वव्यवहार: । तथा सकलप्रपञ्चकारणस्य अज्ञानस्य समुदायरूपेण एकत्वेऽपि अहंकारादिकारणीभूतानां जीवगताज्ञानानाम् प्रत्येकविव-

क्षया बहुत्वव्यवहारः। अस्मिनर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—इन्द्रो मायाभिरिति। (ऋ. ६।४७।१८)

इन्द्रः अयं परमेश्वरः मायाभिः व्यष्टिभूतैरज्ञानैः विक्षेपशक्तिभिः विक्षिप्तेषु देहेन्द्रियान्तःकरणेषु प्रतिबिम्बितः पुरुरूपः बहुरूपः सन् ईयते प्रकाशते। इति श्रुत्वा एकस्यैव अज्ञानस्य बहुत्वेन उल्लेखो विहितः। ननु एकस्यैव अज्ञानस्य तदवच्छिन्नस्य चैतन्यस्य वा व्यष्टिसमष्टिता कुत इत्यत आह—अत्र व्यस्तेति। भेदविवक्षया व्यष्टित्वं मृद्घटादिवत्। अभेदविवक्षया च समष्टित्वं मृत्पिण्डवत्। इदं व्यष्टिरूपज्ञानं स्वयं निकृष्टोपाधिः अथवा निकृष्टस्य (जीवस्य) उपाधिः। एवं च अज्ञानस्य (अविद्यायाः) एकत्वेऽपि समुदायरूपेण दृश्यमानस्य सम्पूर्णस्य प्रपञ्चस्य हेतुतया अहंकारादीनामपि पार्थक्येन कारणतया च तस्मिन् मृत्पिण्डवत् मृद्घटादिवद् वा स्वर्णपिण्डवत् तन्निर्मितकटककुण्डलवद् वा अभेदभेदविवक्षया समष्टिव्यष्टिताव्यवहारः उपपद्यते। महाप्रलयकालीनसमष्टिरूपाया विशुद्धसत्त्वप्रधानाया मूलप्रकृतेः सकाशात् दैनन्दिनप्रलयकालीनव्यष्ट्युपाधिभूताया जीवप्रकृतेः भेदं दर्शयति—इयं व्यष्टिरिति। जीवगताहङ्कारादीनां कारणभूतस्य अज्ञानस्य या व्यष्टिः तस्या रजस्तमोऽभिभूतस्य मलिनसत्त्वस्य प्रधानता भवति। तदुपहितं चैतन्यमपि अल्पज्ञतया अनीश्वरतया एकाऽज्ञानस्य एकांशावभासकतया च (भिन्न-भिन्न-जीवगताज्ञानावभासकत्वेन) प्रायेण प्रकर्षेण वा अज्ञः प्राज्ञः इत्युक्तं भवति। मलिनसत्त्वप्रधानया अज्ञानव्यष्ट्या उपहितं चैतन्यं प्राज्ञचैतन्यमित्युच्यते। ईश्वरगतमूलाज्ञानस्य जीवगताहङ्कारादिविक्षेपसंस्कारादिरूपस्य अज्ञानस्य च वस्तुतः एकत्वेन तदवभासकेश्वरजीवचैतन्ययोरपि एकत्वम्। सौषुप्तजीवचैतन्यस्य प्राज्ञत्वं साधयति—अस्य प्राज्ञत्वमिति। सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्काररूपास्पष्टोपाधितया तदावृतत्वेन अतिप्रकाशकत्वाभावात् अस्य प्राज्ञत्वमितियावत्। यथा जगत्कारणस्य ईश्वरोपाधेः कारणशरीरत्वम् आनन्दप्रचुरत्वेन आनन्दमयत्वं, कोशदृष्टान्तेन च कोशत्वं, तथा एतत्सर्वं तारतम्येन प्राज्ञचैतन्यगताज्ञानेऽपि अतिदिशति—अस्यापीयमिति। यथा प्रलयसमये ईश्वरचैतन्यगतमज्ञानं हिरण्यगर्भादेः सम्पूर्णप्रपञ्चस्य उत्पादकत्वेन कारणशरीरमित्युच्यते, तदानीं प्रकृतिपुरुषौ अतिरिच्य अन्यस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य अभावात् तदेव आनन्दमयम्, तथा स्थूलसूक्ष्मादिसमस्तोपाधीनां विलयाधारत्वात् तदेव

सर्वप्रपञ्चलयस्थानं सुषुप्तिरिति चोच्यते। तथैव प्राज्ञचैतन्यगतमज्ञानमपि सुषुप्तिकाले अहङ्कारादिशरीरोत्पादकत्वात् कारणशरीरम् सुषुप्तिकाले इन्द्रियाणां तद्विषयाणां च राहित्येन (वियोगेन) आसक्तेरभावात् आनन्दप्राचुर्येण आनन्दमयम्, प्राज्ञचैतन्याच्छादकत्वेन कोशः, स्थूलसूक्ष्मशरीरविलयाधारत्वात् स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थानं सुषुप्तिश्चोच्यते। अर्थात् पञ्चीकृतं स्थूलशरीरं (व्यवहारिकसत्ता) अपञ्चीकृतसूक्ष्मशरीरे (प्रातिभासिकसत्तायां) विलीनं भवति, पश्चात् सा प्रातिभासिकसत्ता (स्वाप्नप्रपञ्चः)ऽपि स्वकारणे अज्ञाने विलीना भवति, अत एव सर्वोपरमत्वादेव सुषुप्तिः सर्वप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। तथाचोक्तं वाक्यसुधायां "लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके। तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥ व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात् प्रातिभासिके। तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ॥" (वा०सु० ४६, ४७)। फेनस्य जले विलयो भवति, तथापि तदीयांशिकद्रवत्वादितरङ्गेषु तिष्ठति, किन्तु तस्यापि यदा जले लयो भवति तदा पूर्ववत् शुद्धजलमेव अवतिष्ठते, तथैव आदौ व्यावहारिकसत्ता प्रातिभासिकसत्तायां विलीना भवति, ततः तस्यामपि विलीनायां शुद्धचैतन्यमात्रमवतिष्ठते ॥ ११ ॥

विमला—यद्यपि यह अज्ञान एक है तथापि समष्टि और व्यष्टि के अभिप्राय से क्रमशः एक और अनेक कहा गया है। अर्थात् समष्टि (समूह) के अभिप्राय से एक और व्यष्टि (व्यक्ति) के अभिप्राय से अनेक उसे कहा गया है। जैसे—वृक्षों की समष्टि (समूह, समुदाय) के अभिप्राय से 'यह वन है' इस प्रकार एकत्व का व्यवहार लोग किया करते हैं, अथवा जलों (जल की बूंदों) की समष्टि के अभिप्राय से 'यह जलाशय है' इस प्रकार एकत्व का व्यवहार लोग किया करते हैं। वैसे ही अन्तःकरणरूप उपाधि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत हुए प्रत्येक जीव के भिन्न-भिन्न अज्ञानों के लिए एक ही 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'अजामेकाम्' श्रुति ने 'अज्ञान' (अविद्या, माया) को एकवचन से ही बताया है। इससे प्रतीत होता है कि अज्ञान की यह एकता उसका समष्टिरूप (सामान्यरूप) है। यह अज्ञानसमष्टि (अज्ञान का सामान्यरूप) उत्कृष्ट (ज्ञानरूप चैतन्य) की उपाधि है। अथवा रागादिदोषरहित समस्त कार्यप्रपञ्चवाले जगत्कारणस्वरूप अज्ञान

की समष्टि ही उत्कृष्ट उपाधि है। इसीलिए इस अज्ञानसमष्टि में विशुद्धसत्त्व की प्रधानता रहती है। अर्थात् इस समष्टिभूत अज्ञान में रजोगुण तथा तमोगुण अभिभूत (दबे) रहते हैं और सत्त्वगुण प्रबल रहता है, अत एव उसकी प्रधानता मानी जाती है। इस सत्त्वगुणप्रधान समष्टिरूप अज्ञान से उपहित जो चैतन्य है, उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं। क्योंकि वह (अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य) चराचरात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च का साक्षी है। उसी प्रकार सभी जीवों को उनके कर्मानुरूप उन्हें फल देता है, इसीलिए उस चैतन्य को 'सर्वेश्वर' भी कहते हैं। वह चैतन्य सभी जीवों के अन्तःकरण में स्थित होकर उनकी बुद्धि का नियन्त्रण (नियमन) करता है, इसीलिए उसे 'सर्वान्तर्यामी' कहते हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचरात्मक प्रपञ्च के उत्पादक विवर्त का वह (चैतन्य) अधिष्ठान है, इसलिए उसे 'ईश्वर' भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विशुद्धसत्त्वप्रधान अज्ञानसमष्टिरूप उपाधि से विशिष्ट (उपहित) चैतन्य, सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियामकत्व आदि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण, ईश्वर आदि नाम उसी चैतन्य के हैं। श्रुति ने भी इसका समर्थन किया है—"जो ईश्वर सामान्यरूप से सब कुछ जानने के कारण सर्वज्ञ और विशेष रूप से भी कोई वस्तु उसे अज्ञात नहीं है, इसीलिए वह सर्ववेत्ता है।"—(मुण्ड० उ० १।१।९)। योगवासिष्ठ में भी यही बात कही गई है—'तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः'-(यो० वा० ६।४८।२३)। ईश्वर की उपाधिरूप यही अज्ञानसमष्टि (माया) समस्त विश्व (जगत्) का कारण है, इसलिए इसे (अज्ञानसमष्टि को) कारणशरीर कहते हैं। इसमें आनन्द की प्रचुरता (अधिकता) रहने से और वही (समष्टिरूप अज्ञान) कोश (म्यान) की तरह ईश्वरचैतन्य का आच्छादक होने से (ढक लेने के कारण) उसे (अज्ञानसमष्टि को) 'आनन्दमयकोश' कहते हैं। यहाँ यह समझने की बात है—आनन्दप्रचुरत्वधर्म, उपहितचैतन्य का है और आच्छादकत्वधर्म अज्ञान का है, किन्तु अविवेक से कारणभूत अज्ञानसमष्टि को ही आनन्दमय कोश समझा जाता है। अर्थात् कारणावस्था में प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्म कार्यप्रपञ्च कुछ भी नहीं रहने से उस अज्ञानसमष्टि में ही आनन्द की प्रचुरता (अधिकता) समझी जाती है। एवं जाग्रत् अवस्था से युक्त स्थूलप्रपञ्च (पञ्चीकृत भूतों का कार्य)

और स्वप्नावस्था से युक्त सूक्ष्मस्वाप्नप्रपञ्च (अपञ्चीकृत भूतों का कार्य) इन दोनों (स्थूल सूक्ष्म उपाधियों) का इसी में (अज्ञानसमष्टि में) विलय (उपरम) होता है अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म उपाधि इसी कारणोपाधि में लीन हो जाती है। इसलिए इसे (अज्ञान-समष्टि को) सुषुप्ति (महासुषुप्ति, प्रलय) कहते हैं, अतएव (विलयन स्थान होने के कारण ही) स्थूल-सूक्ष्म-प्रपञ्च (सृष्टि) के लय का स्थान भी कहते हैं।

जिस प्रकार अनेक वृक्षों को सामूहिक रूप में कहने की इच्छा होने पर उन सबको 'वन' कह देते हैं। अर्थात् समष्टिरूप में कहते हैं, किन्तु जब एक-एक वृक्ष को अलग-अलग (व्यष्टिरूप में) कहना चाहते हैं, तब आम, जामुन, अमृत (अमरूद) केला आदि भिन्न-भिन्न नामों से उन वृक्षों को बताते हैं। अथवा जैसे जल के अनेक कणों के अभिप्राय से या वापी, कूप, तडागादि में जल की समष्टि को बोध कराने के लिए सबको जलाशय कहते हैं अर्थात् सब में सामूहिक रूप से (समष्टि रूप से) एकत्व का व्यवहार करते हैं किन्तु पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) बोध कराने की इच्छा होने पर एक-एक जलकण या वापी, कूप, तडाग (तालाब) आदि भिन्न-भिन्न नामों से (व्यष्टिरूप में) उन जलाशयों को कहते हैं अर्थात् उनमें बहुत्व का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च (विश्व) के कारणरूप अज्ञान में समष्टिरूप से 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग कर एकत्व का व्यवहार किया जाता है. किन्तु नाना जीवगत नाना अहंकार आदि के कारणरूप नाना अज्ञानों के अभिप्राय से व्यष्टिरूप में 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार बहुत्व का व्यवहार किया जाता है। इसी को 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' "परमेश्वर व्यष्टिभूत अज्ञानों के द्वारा अनेकरूपवाला प्रतीत होता है" इस ऋचा के द्वारा श्रुति ने बताया है। अर्थात् उस एक अज्ञान (माया) का ही अनेक रूप में उल्लेख किया है। यहाँ पर इस अज्ञान में एक व्यक्ति को व्याप्त करने के कारण 'व्यष्टि अज्ञान' और समूह को व्याप्त करने के कारण 'समष्टि अज्ञान' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'अज्ञान' एक ही है। यह अज्ञान (अविद्या) व्यष्टि, निकृष्ट-उपाधि होने के कारण अथवा ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट जीव की उपाधि होने के कारण इसमें रजोगुण और तमोगुण के कुछ उत्कर्ष के कारण सत्त्वगुण में मलिनता रहती

है, फिर भी मलिन-सत्त्वगुण की ही प्रधानता रहती है। एक ही अज्ञान का समष्टि और व्यष्टि के रूप में व्यवहार इसलिए होता है कि वह (अज्ञान, अविद्या) समुदायरूप से (समष्टिरूप से) दृश्यमान सकल प्रपञ्च का हेतु (कारण) है और पृथक्-पृथक् रूप से (व्यष्टि-रूप से) अहंकार आदिका भी हेतु है। जीवगत अहंकार के हेतुभूत अज्ञानव्यष्टि में रजोगुण एवं तमोगुण के कुछ उत्कर्ष के कारण मलिन हुए सत्त्व की प्रधानता है। इस प्रकार के व्यष्टि-रूप अज्ञान से उपहित हुआ चैतन्य अल्पज्ञ तथा अनीश्वर होने के कारण प्राज्ञ (प्रकर्षेण प्रायेण वा अज्ञ) कहा जाता है, क्योंकि वह प्राज्ञ, अज्ञान के एक ही अंश का (भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न अज्ञान का) प्रकाश कर पाता है (अल्प प्रकाशक होता है), सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व आदि विशेषताओं के न होने के कारण अर्थात् निकृष्टोपाधि होने के कारण अत्यन्त प्रकाशक नहीं हो पाता। किन्तु जिस प्रकार ईश्वर चैतन्य के अज्ञान को 'कारणशरीर' 'आनन्दमयकोश' 'सुषुप्ति' कहा जाता है, उसी प्रकार प्राज्ञचैतन्य के अज्ञान के लिए भी कारणशरीर आनन्दमयकोश, सुषुप्ति आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है। क्योंकि जिस प्रकार प्रलयकाल में ईश्वरचैतन्य का अज्ञान हिरण्यगर्भादि संपूर्ण प्रपंच का उत्पादक होने से 'कारणशरीर' कहा जाता है, उस समय प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्म-प्रपञ्च आदि कुछ न रहने से उसीको आनन्दमय कहा जाता है। एवं समस्त स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों का विलयाधार होने से सर्वप्रपञ्चलयस्थान तथा सुषुप्ति भी उसी को कहा जाता है। उसी प्रकार प्राज्ञचैतन्य का अज्ञान भी सुषुप्ति-काल में अहंकारादि शरीर का उत्पादक होने से कारण-शरीर कहलाता है और सुषुप्ति-काल में इन्द्रियों और उनके विषयों के न रहने से किसी प्रकार की कोई आसक्ति नहीं रहती, जिससे आनन्दप्रचुरता उस समय रहती है, इसलिए उसे आनन्दमय भी कहते हैं, प्राज्ञचैतन्य का वह आच्छादन (आवरण) करता है, इसलिए उसे कोश कहते हैं, और स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के विलय का आधार होने से स्थूल-सूक्ष्मशरीरलय-स्थान तथा सुषुप्ति भी उसे कहते हैं। इसी अभिप्राय को वाक्यसुधाकार ने भी एक पद्य के द्वारा बताया है। वे कहते हैं—

जल का फसूकर (फेन) जब जल में घुल जाता है, तब उसका द्रवत्वादि

कुछ अंश जल के तरंगों में बना रहता है और जब वह भी जल में अच्छी तरह घुल जाता है तब पूर्व की तरह शुद्ध जल अवशिष्ट रहता है। उसी प्रकार पञ्चीकृत स्थूल शरीर (व्यावहारिक जीव की सत्ता) अपञ्चीकृत-सूक्ष्मशरीर (प्रातिभासिक सत्ता) में विलीन होता है; तदनन्तर वह प्रातिभासिक सत्ता भी अपने कारण (अज्ञान) में लीन हो जाती है और शुद्ध-चैतन्यांशमात्र बचा रहता है।

"लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥
व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात्प्रातिभासिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्थन्ति साक्षिणि ।११।

व्युत्पत्तिः—समष्टि–यह समष्टिशब्द व्याप्ति एवं समूह अर्थ वाले 'अश्' धातु से बनता है। (सम्+अश्+क्तिन्) समष्टि का अर्थ 'समूह' है।

व्यष्टि—इसमें भी वही उपर्युक्त धातु है। (वि+अश्+क्तिन्) व्यष्टि का अर्थ एक, सीमित।

पञ्चदशीकार विद्यारण्यस्वामी ने अज्ञानसमष्टि को 'माया' और व्यष्टि को 'अविद्या' कहा है—'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते'—
(पञ्चद० १।१६)

एकमनेकमिति—उपनिषदों में अज्ञानवाचक अविद्या, माया, प्रकृति, अजा आदि शब्दों का एकवचन में तथा बहुवचन में भी प्रयोग उपलब्ध होने से यह कहा गया है।

नानात्वेन—जितने जीव हैं वे अपना पृथक्-पृथक् अज्ञान रखते हैं और वे अज्ञान तत्तद् जीवों के द्वारा प्रकाशित होते हैं। जीव के अज्ञान को ही अज्ञान-व्यष्टि कहते हैं।

उपाधि —'प्रयोजकश्च उपाधिः' प्रयोजक को 'उपाधि' कहते हैं।

(उप+आ+धा+कि=उपाधिः)। जब कोई पदार्थ (वस्तु) अपने रूप में प्रकट न होकर भिन्न रूप में प्रकट हो, उसके इस प्रकार प्रकट होने में जो प्रयोजक (कारण) रहता है, उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे–रस्सी के सर्परूप में प्रकट होने में देखने वाले मनुष्य का 'अज्ञान' प्रयोजक (कारण) है। इसलिए

वहाँ पर 'अज्ञान' ही 'उपाधि' है। उसी प्रकार जब ब्रह्म, ईश्वर अथवा जीव के रूप में प्रकट होता है, तब ईश्वर रूप से प्रकट होने में 'अज्ञानसमष्टि' प्रयोजक (कारण) होने से उपाधि है और जीवरूप से प्रकट होने में 'अज्ञान-व्यष्टि' प्रयोजक (कारण) होने से उपाधि है। उपाधि से युक्त होने वाले को 'उपहित' और उससे रहित को अनुपहित' कहते हैं।

उत्कृष्टोपाधितया—श्रेष्ठ उपाधि होने के कारण अथवा श्रेष्ठ की उपाधि होने के कारण 'उत्कृष्टश्चासौ उपाधिः, उत्कृष्टस्य उपाधिरिति वा।' समष्टि और व्यष्टि के भेद से अज्ञान के दो विभाग किये गये हैं—१. अज्ञान-समष्टि और अज्ञानव्यष्टि। अज्ञानसमष्टि अज्ञानव्यष्टि से श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) उपाधि है। दूसरे अर्थ में जीव से ईश्वर श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) है ही। इस कारण उस उत्कृष्ट ईश्वर की उपाधि होने से अज्ञान-समष्टि को उत्कृष्ट उपाधि कहा गया है।

आनन्दमयकोशः—अज्ञान-समष्टि से उपहित (आच्छादित) होनेवाला ईश्वर चैतन्य आनन्दमय है और अज्ञानसमष्टि, ईश्वरचैतन्य का आच्छादक होने से वह कोश के समान है, अतः उस अज्ञानसमष्टि को आनन्दमयकोश कहते हैं।

निकृष्टोपाधितया—इसके भी 'उत्कृष्टोपाधितया' के समान दो अर्थ हैं। १—निकृष्ट उपाधि होने के कारण, २—निकृष्ट की उपाधि होने के कारण। अज्ञान-समष्टि से अज्ञानव्यष्टि की व्यापकता न्यून (कम) है, इस कारण वह (अज्ञान-व्यष्टि) निकृष्ट उपाधि कही जाती है तथा जीव भी ईश्वर की अपेक्षा कम शक्तियों से सम्पन्न होने से निकृष्ट है। ऐसे निकृष्ट जीव की यह अज्ञानव्यष्टि उपाधि होने से उसे निकृष्ट की उपाधि कहते हैं। 'निकृष्टश्चासौ उपाधिः, निकृष्टस्य उपाधिरिति वा'।

मलिनसत्त्वप्रधाना—निकृष्ट जीव की उपाधि व्यष्टिरूप अज्ञान (अज्ञान-व्यष्टि) है, इसमें सत्त्व की प्रधानता रहने पर भी वह (सत्त्व) रजोगुण तथा तमोगुण से कुछ अभिभूत हुआ-सा रहता है, किन्तु इसके विपरीत ईश्वर की उपाधि-रूप अज्ञान-समष्टि (समष्टिरूप अज्ञान) में जो सत्त्वगुण है, वह रजोगुण तथा तमोगुण से किञ्चित् भी अभिभूत नहीं रहता, यही उस सत्त्वगुण की विशुद्धता है, ऐसे विशुद्ध सत्त्वगुण की अज्ञान-समष्टि में प्रधानता रहती है। इसीलिए

'ईश्वरचैतन्य' सर्वज्ञत्वादि गुणों से विशिष्ट कहा जाता है और 'जीव' अल्पज्ञत्वादि गुणों से युक्त कहा जाता है। अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि उपाधियों के कारण ही जीव-ईश्वर में भेद है अर्थात् औपाधिक भेद है।

अहङ्कारादिकारणत्वात्—सुषुप्ति के समय अहङ्कार (अन्तःकरण) का अज्ञान में लय होता है और जाग्रत् अवस्था में उस अज्ञान से ही वह प्रकट होता है, इसीलिए अज्ञान को अहङ्कार (अन्तःकरण) आदि का कारण कहते हैं।

आनन्दप्रचुरत्वात्—जाग्रत् और स्वप्न की अवस्था में आनन्द के साथ-साथ सुख-दुःख भी रहते हैं। परन्तु सुषुप्तिकाल में आनन्द ही प्रचुरमात्रा में रहता है, दुःख की मात्रा बहुत ही कम होती है। कैवल्योपनिषद् में कहा गया है—"सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।"–(कैव०उ०१३)

सर्वोपरमत्वात्—जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था का सम्पूर्ण जगत्, सुषुप्ति में लीन हो जाता है।

सुषुप्ति—अज्ञान से आच्छादित (आवृत) आत्मा की एक अवस्था। उसकी (आवृत आत्मा की) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ होती हैं।

(क) सुषुप्ति अवस्था में कारण-शरीर (अज्ञानसमष्टि-अज्ञानव्यष्टि) उपाधि होता है। उसे ही आनन्दमयकोश कहते हैं।

(ख) स्वप्नावस्था में उपर्युक्त कारण-शरीर के साथ ही सूक्ष्म शरीर भी उपाधि बनकर रहता है। विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश और प्राणमयकोश इन तीनों कोशो का समूह ही सूक्ष्मशरीर है। इसी अवस्था में उपर्युक्त दो शरीरों (कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर) के साथ ही स्थूल शरीर भी उपाधि बनकर रहता है। इस स्थूल शरीर को ही अन्नमयकोश कहते हैं। अज्ञान की उपाधि से युक्त हुए ईश्वर तथा जीव की ये उपर्युक्त तीन-तीन अवस्थाएँ हुआ करती हैं। ईश्वर की सुषुप्तावस्था का नाम 'प्रलय' है। सूक्ष्मभूतो की सृष्टि से सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होने पर उसकी स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था का अभिमानी ईश्वर 'हिरण्यगर्भ', 'सूत्रात्मा', 'ब्रह्म', आदि नामों से कहा जाता है। सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूतों की उत्पत्ति होने पर उसकी (ईश्वर की) जगत्कारणावस्था हुआ करती है। इस अवस्था के अभिमानी ईश्वर को 'विराट्' और 'वैश्वानर' कहते हैं। ये ही तीन अवस्थाएँ इसी प्रकार से जीव

की भी हुआ करती हैं। सुषुप्ति अवस्था में उस जीव को 'प्राज्ञ' कहते हैं, स्वप्नावस्था में उसे 'तैजस' और जाग्रत् अवस्था में उसे 'विश्व' नाम से कहा जाता है।। ११ ॥

प्रलयकाल तथा सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण और उसकी वृत्ति के न होने से आनन्द का ग्रहण कौन करेगा ? तथा आनन्द की विपुलता में क्या प्रमाण है ? उसे बताया जा रहा है—

[ईश्वर-प्राज्ञयोः स्वात्मानन्दानुभवः]

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत "आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञ" इति श्रुतेः सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाभेद "एष सर्वेश्वर" इत्यादिश्रुतेः ॥ १२ ॥

सारबोधिनी—ननु प्रलयावस्थायां सुषुप्त्यवस्थायां च अन्तःकरणस्तद्वृत्तयश्च न भवन्ति, तेन आनन्दग्राहकस्य सम्भवो नास्ति तदा आनन्दप्राचुर्यसद्भावे किम्प्रमाणमित्याशङ्क्य परिहरति—तदानीमिति। यथा निर्मलतया अन्तःकरणस्य वृत्तिः स्वीक्रियते तथा चैतन्यप्रदीप्तस्य, अज्ञानस्यापि सूक्ष्माः वृत्तयः स्वीक्रियन्ते। तथा च ईश्वरः प्राज्ञश्च स्वाऽज्ञानवृत्तिभिः स्वात्मानन्दबाहुल्यं तारतम्येन अनुभवतः। अत्र श्रुतिम्प्रमाणयति—आनन्दभुगिति—(माण्डू० उ० ५) चेतोमुखः चैतन्यदीप्ताऽज्ञानवृत्तिप्रधानः। आदिशब्दात् 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।'—(कैव० उ० १३) इति श्रुत्यन्तरपरिग्रहः। एवं च प्रलयकाले ईश्वरः, सुषुप्तौ च प्राज्ञः उभावपि आनन्दप्राचुर्यात् स्वात्मानन्दमनुभवतः। यतः अन्तःकरणवृत्तिरिव चैतन्यप्रदीप्तस्य अज्ञानस्यापि सूक्ष्मा वृत्तयो भवन्ति, अतः स्वसूक्ष्माज्ञानवृत्तिभिः

ईश्वर: तथा प्राज्ञोऽपि प्रलये सुषुप्तौ च स्वस्वरूपानन्दमनुभवत इति सूक्तमेव। माण्डूक्योपनिषदि अपि एतदेव प्रतिपादितम्–"यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुप्तम्।" इति। सुषुप्तिकाले आनन्दः अनुभूयते इत्यत्र 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति परामर्शोऽपि प्रमाणम्। स्वापानन्तर-मुत्थितो जीवः 'सुखेनाहमस्वाप्सम्' इति कथयति। अनेन स्पष्टमवगम्यते यत् अस्यां दशायां यद्यपि अन्यत् ज्ञानं नासीत् तथापि 'अहं सुखेनास्मि' इति ज्ञानं तु आसीदेवेति। ज्ञानं तावत् जीवात्मनः स्वाभाविको गुणः। अग्नेः उष्णता यथा तत्पृथक्त्वेन अवस्थातुं न शक्नोति तथा जीवात्मनो ज्ञानमपि तत्पृथक्त्वेन स्थातुं न शक्नोति। सुषुप्तिकाले बाह्यसाधनानामभावात् आत्मनो बाह्यज्ञानं न भवति, परन्तु आनन्दानुभवरूपमन्तर्ज्ञानं तु जायत एव। अत एव कपिलमुनिना सांख्यदर्शने 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' इति सूत्रे जीवात्मनो ब्रह्मरूपता प्रतिपादिता। यथा प्रदीप्ताग्नौ प्रक्षिप्तः लोहपिण्डः अग्नि-साद् भवति। तदानीं तत्राग्निगुणस्य उष्णतायाः, पार्थिवगुणस्य भारादेरपि च विद्यमानत्वेऽपि लोहपिण्डः अग्निगोलक इति उपचारेणाभिधीयते, तथैव समाधिसुषुप्तिमोक्षदशासु ब्रह्मगुणानन्दयुक्ते जीवात्मनि स्वगुणाल्पज्ञत्वादि-विशिष्टेऽपि ब्रह्मत्वमुपचर्यते।

समष्टिरूपस्य अज्ञानस्य व्यष्टिरूपस्य अज्ञानस्य च तथा ईश्वरचैतन्यस्य प्राज्ञ-चैतन्यस्य च अभेदः। वन-वृक्षयोरैक्यमिव अथवा जलाशयवापीकूपतडागादि-जलयोरैक्यमिव अथवा वन-वृक्षावच्छिन्नाऽऽकाशयोरैक्यमिव अथवा जला-शयवापीकूपतडागादिजलगत–प्रतिबिम्बिताऽऽकाशयोरिव अज्ञान–समष्टिव्यष्ट्-युपहितयोः ईश्वर-प्राज्ञचैतन्ययोरपि ऐक्यमवगन्तव्यम्। अत एव 'अयमात्मा एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्यामी' (माण्डू० उ० ६) इत्यादिना माण्डू-क्योपनिषदि वर्णितम्। ईश्वरगतमूलाज्ञाने संस्कारमात्रावशिष्टप्राज्ञताज्ञाने च समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेण भेदप्रतीतावपि वस्तुगत्या यथा भेदाभावः, तथैव समष्टि-व्यष्ट्युपहितेश्वरचैतन्ये प्राज्ञचैतन्येऽपि वस्तुगत्या भेदाभावः। समष्टिरूपाज्ञानो-पहितं चैतन्यमीश्वरः, व्यष्टिरूपाज्ञानोपहितं च चैतन्यं प्राज्ञः इत्युच्यते। कनक-तन्निर्मितकुण्डलवत्, मृत्पिण्डतन्निर्मित-घटशरावद्वा कारणोपाधि–विशिष्टस्य ईश्वरस्य, कार्योपाधिविशिष्टस्य प्राज्ञस्य चाभिन्नत्वम्। कार्य-कारणयोः भेद-

भावे दूरीभूते सति 'सोऽहम्' इति ब्रह्मज्ञानरूपः पूर्णबोध एव अवशिष्यते। एतदेवानुभूतिप्रकाशेऽपि प्रतिपादितम् —"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते।" (अनुभू० प्र० २०) ॥ १२ ॥

विमला—प्रलयावस्था में ईश्वर और सुषुप्त्यवस्था में प्राज्ञ (जीव) ये दोनों ही आनन्द की प्रचुरता (अधिकता) होने के कारण स्वात्मानन्द (स्व स्वरूप) का अनुभव करते हैं। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रलय तथा सुषुप्ति की अवस्था में न अन्तःकरण ही रहता है और न उसकी वृत्ति ही रहती है, जो आनन्द का ग्रहण कर सके। तब ईश्वर अथवा प्राज्ञ स्वात्मानन्द का अनुभव कैसे कर पाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार 'तदानीम्' इत्यादि ग्रन्थ से दे रहे हैं। अन्तःकरण की वृत्ति के समान ही चैतन्य से प्रदीप्त (प्रकाशित) अज्ञान की भी सूक्ष्म वृत्तियाँ हुआ करती हैं। अतः अपनी-अपनी अस्पष्ट (अत्यन्त सूक्ष्म) अज्ञान वृत्तियों के द्वारा ईश्वर और प्राज्ञ भी प्रलयकाल और सुषुप्तिकाल में अपने स्वरूपभूत आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। इसी अभिप्राय को माण्डूक्योपनिषद् ने भी बताया है—"यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघनः एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः।"—(माण्डू० ३—५) सुषुप्तदशा में आनन्दानुभव को केवल श्रुतिवाक्य ने ही नहीं बताया अपितु 'मैं सुख से सोया, कुछ भी नहीं जाना' यह अनुभूति सोकर जगे हुए व्यक्ति को हुआ करती है। यद्यपि सुषुप्ति में अन्य विषयों का ज्ञान उसे नहीं था। तथापि 'मैं सुख से (आनन्द में) हूँ' यह ज्ञान अवश्य था। इस प्रकार प्रलयकाल तथा सुषुप्तिकाल में सुख (आनन्द) के अनुभव का समर्थन श्रुतिवाक्यों से और अनुभव से हो जाता है। अग्नि से उष्णता की तरह चैतन्य का स्वभावरूप ज्ञान उससे (चैतन्य से) दूर नहीं हो सकता। सुषुप्ति दशा में बाह्य साधनों के न होने से चैतन्य (आत्मा) को यद्यपि बाह्यज्ञान नहीं होता तथापि सुखानुभवरूप अन्तःज्ञान तो होता ही रहता है। अत एव महामुनि कपिल ने अपने सांख्य दर्शन के 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि तीनों दशाओं में आनन्द का अनुभव होते रहने से यह जीवात्मा भी ब्रह्म (ब्रह्मरूपता को प्राप्त) हो जाता है। जैसे धधकते हुए अग्नि में लोहे के

गोले को डाल दिया जाय तो वह लाल हो जाता है, उस समय उसमें अग्नि का उष्णत्व (उष्णता) गुण भी होता है और अपने जो पार्थिवगुण हैं—भार आदि, वे भी रहते हैं। उसी प्रकार समाधि आदि तीनों दशाओं में जीवात्मा में ब्रह्म का स्वाभाविक गुण 'आनन्द' आ जाता है और अपने 'अल्पज्ञत्व' आदि गुण भी रहते हैं। अतः ऐसी दशा में जीव को औपचारिक (वास्तविक नहीं) रूप से ब्रह्म कहा जाता है। जीव को ब्रह्म कहना वैसे ही है जैसे गरम लोहे को अग्नि के दाहकत्व गुण से युक्त होने के कारण अग्नि कह देना। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर और प्राज्ञ, प्रलय और सुषुप्तिकाल में चैतन्य से प्रकाशित हुई अज्ञानवृत्तियों से आनन्दानुभव करते हैं।

अज्ञान की समष्टि और व्यष्टि में (समष्टि और व्यष्टि रूप से भिन्न प्रतीत होने वाले दो अज्ञानों में) वैसी ही अभिन्नता (एकता) है, जैसी वन और (वन के) वृक्ष में अथवा जलाशय और वापी, कूप, तडाग आदि में है। उसी तरह अज्ञानसमष्टि और व्यष्टि से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ में भी वैसी ही एकता है, जैसी वनपरिमित आकाश और वृक्षपरिमित आकाश में अथवा जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश और नदी, वापी आदि में प्रतिबिम्बित आकाश में होती है। 'एष सर्वेश्वर' इस माण्डूक्यश्रुति से भी ईश्वर और प्राज्ञ की एकता प्रमाणित होती है। इस श्रुति में आत्मा को ही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ अन्तर्यामी आदि कहा है। समष्टि और व्यष्टि की दृष्टि से ईश्वरगत मूल अज्ञान और प्राज्ञगत अज्ञान में भेद ज्ञात होता है किन्तु वास्तविक कोई भेद नहीं है उसी प्रकार अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ में भी वास्तविक कोई भेद नहीं है। समष्टिरूप अज्ञानोपहित चैतन्य को 'ईश्वर' यह नाम दिया गया है। और व्यष्टिरूप अज्ञानोपहित चैतन्य को 'प्राज्ञ' यह नाम दिया गया है। जैसे सुवर्णपिण्ड कारण और उससे निर्मित कङ्कण-कुण्डलादि कार्य हैं, उसी प्रकार कारणोपाधिविशिष्ट को ईश्वर और कार्योपाधिविशिष्ट को प्राज्ञ (जीव) यह नाम दिया गया है। वस्तुतः सुवर्ण और उससे बने कङ्कण-कुण्डल के समान दोनों अभिन्न हैं। जब कार्य-कारणरूप भेदभाव दूर हो जाता है तब 'सोऽहम्' यह ब्रह्मज्ञान (पूर्णबोध) केवल शेष रह जाता है। अनुभूति-प्रकाशकार कहते हैं—

"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥ १२ ॥

व्युत्पत्ति—अज्ञानवृत्तिभिः—जाग्रत् तथा स्वप्न की अवस्था में जीव (प्राज्ञ) अन्तःकरणकी वृत्तियों से विषयों का अनुभव करता है और सुषुप्ति की अवस्था में अन्तःकरणका अज्ञान में लय होता है। उस समय यह जीव (प्राज्ञ) अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियों से आनन्द का अनुभव लेता है, तथा ईश्वर को अन्तःकरण न होने से वह प्रलयकाल में अपनी मायावृत्ति से आनन्द का अनुभव लेता है।

चैतन्यप्रदीप्ताभिः—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण जड़ हैं, इस कारण त्रिगुणात्मक अज्ञान (माया) भी जड़ है। यह चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होने पर ही अनुभव कराने में समर्थ हो पाता है। अज्ञान जब चैतन्य से प्रकाशित होता है तभी वह अपनी वृत्तियों से प्राज्ञ और ईश्वर को उनके आनन्द स्वरूप का अनुभव कराता है।

चेतोमुखः—चैतन्य से प्रकाशमान अज्ञान की वृत्तियों की प्रधानता से युक्त प्राज्ञ ॥ १२ ॥

अनवच्छिन्न तुरीय चैतन्य का निरूपण कर रहे हैं।

(अनुपहितं तुरीयं चैतन्यम्)

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यत" इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ॥ १३ ॥

सारबोधिनी—उपाधिद्वयावच्छिन्नौ ईश्वर-प्राज्ञौ सविस्तरं प्रतिपाद्य अधुना वनवृक्षेत्यादिदृष्टान्तेन अनवच्छिन्नं तुरीयं चैतन्यं निरूपयति—वनवृक्षेति।

वनावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नाकाशयोः जलाशय-तडागादिगतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वा आधारभूतो यथा महाकाशः तथैव ईश्वर-प्राज्ञचैतन्ययोरपि आधारभूतमनुपहितं सर्वत्र व्यापकं यद् विशुद्धं चैतन्यं, तत् तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते। अत्र श्रुतिम्प्रमाणयति—"शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते"—(माण्डू० उ० ७) इत्यादिश्रुतेः। इत्यत्र 'आदि'पदेन "त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ताभोगश्च यद् भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥" इति श्रुत्यन्तरपरिग्रहः। इदमेव विशुद्धचैतन्यम्। इदं विशुद्धचैतन्यं पूर्वोक्तेन अज्ञानसमष्टिव्यष्ट्युपहितेश्वर-चैतन्यप्राज्ञचैतन्यद्वयेन सह अभेदविवक्षायां (एकत्वविवक्षायां) 'तत्त्वमसी'ति महावाक्यस्य वाच्यार्थत्वं लभते, भेदविवक्षायां च लक्ष्यार्थत्वं लभते। चैतन्य-रूपेण त्रयाणां चैतन्यानां यद्यपि एकत्वम्, तथापि अज्ञानानवच्छिन्नत्वेन वाच्यत्वम्, अज्ञानावच्छिन्नत्वेन च लक्ष्यत्वं भजते। यथा अग्नौ प्रक्षिप्ते अयो-गोलके भारादिपार्थिवांशे सत्यपि अग्निगुणदाहकताशक्तिमत्तया अग्निगोलक-व्यवहारः, तथा तेन दाहे जायमाने अयःपिण्डो दहतीति व्यवहारः, तथैव अज्ञानोपहितयोः ईश्वर-प्राज्ञचैतन्ययोः विशुद्धचैतन्येन सह एकत्वभिन्नत्व-व्यव-हारः। एतत्प्रतिपादनस्य प्रयोजनं तावत् प्रसङ्गतो निरूपितेन अध्यारोपेण व्यासक्तचित्ततया प्रकरणार्थ-विस्मरणं माभूदिति॥ १३॥

विमला—जैसे वन तथा वन के वृक्षों से मर्यादित (अवच्छिन्न) अर्थात् वन में वर्तमान तथा वृक्षों में वर्तमान आकाश का आधारभूत अनुपहित (अनव-च्छिन्न अमर्यादित) आकाश अर्थात् महाकाश होता है अथवा जलाशय में पड़े हुए आकाशप्रतिबिम्ब तथा वापी, कूप, तडागादि में पड़े हुए आकाशप्रति-बिम्ब का आधारभूत अनुपहित (अनवच्छिन्न, अमर्यादित) आकाश अर्थात् महाकाश है, वैसे ही अज्ञानसमिष्टि से उपहित (उपाधिसहित, अवच्छिन्न, मर्यादित) ईश्वरचैतन्य और अज्ञानव्यष्टि से उपहित (उपाधिसहित, अव-च्छिन्न, मर्यादित) प्राज्ञ (जीव) चैतन्य का आधारभूत अनुपहित (उपाधि-रहित, अनवच्छिन्न, अमर्यादित) सर्वव्यापी विशुद्ध चैतन्य है, उसी को तुरीय (चतुर्थ) चैतन्य कहते हैं।

"वेदान्तवेत्ता उस अनुपहित विशुद्धचैतन्य को शिव, अद्वैत तथा तुरीय (चतुर्थ) कहते हैं।"—(माण्डू० उ० ७) यही बात 'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं"

इत्यादि अन्य श्रुतियों से भी कही गई है। जैसे अग्नि में डला हुआ लोहे का गोला लाल (रक्तवर्ण) हो जाने पर वह अग्नि से अलग प्रतीत नहीं होता। उसमें भारादि पार्थिवांश के रहने पर भी अग्नि की दाहकता शक्ति (गुण) से युक्त होने के कारण उसे आग का गोला कहते हैं और उससे जल जाने पर लोहे का गोला जलाता है (अयो दहति) कहते हैं, वैसे ही अज्ञानोपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ (जीव) चैतन्य और विशुद्ध (अनुपहित) चैतन्य की एकता (अभिन्नता) 'तत्त्वमसि'—(छां० उ० ६।८।७) इस महावाक्य का वाच्यार्थ है। और प्राज्ञ-ईश्वर चैतन्य से विशुद्धचैतन्य की भिन्नता 'तत्त्वमसि'—(छां० उ० ६।८।७) इस महावाक्य का लक्ष्यार्थ है ।। १३ ।।

व्युत्पत्ति—आधारभूतानुपहिताकाशवत् – सोपाधिक का जो मूलभूत अनुपहित आकाश अर्थात् महाकाश, जो समस्त उपाधियों से रहित हो।

तुरीयम्—अविद्या, ईश्वर और प्राज्ञ से चतुर्थ (चौथा) होने से अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ से चतुर्थ होने से इस विशुद्धचैतन्य को 'तुरीय' कहा गया है।

वाच्य—वाच्य अर्थ का ज्ञान अभिधाशक्ति के द्वारा शब्द कराता है। शब्द सुनते ही पहिले अभिधा-शक्ति अपने वाच्य (अर्थ) अर्थात् वाच्यार्थ का बोध कराती है। अभिधाशक्ति से बोधित अर्थ को वाच्य (वाच्यार्थ, मुख्यार्थ, शक्यार्थ) कहते हैं।

लक्ष्य—लक्ष्यार्थ का ज्ञान लक्षणा शक्ति के द्वारा शब्द कराता है। जहाँ कहीं मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढि (प्रसिद्धि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादनार्थ मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति करानेवाली शक्ति को लक्षणा कहते हैं, उस शक्ति से बोधित अर्थ को लक्ष्य (लक्ष्यार्थ) कहते हैं ।। १३ ।।

कहाँ स्वप्रकाश चिद्रूप आत्मा की कुण्ठितप्रकाशता और कहाँ असंग, उदासीन आत्मा की आकाशादिप्रपञ्चजनकता ? इस महान् विरोध का परिहार आगे बताया जा रहा है—

(अज्ञानस्य आवरण-विक्षेपशक्तिद्वयी)

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् । आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा"॥ इति ॥

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना । विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि
ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदि"ति ॥ १४ ॥

सारबोधिनी—अथ इदानीमात्मनः स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपत्वे कथं तत्र कुण्ठितप्रकाशत्वं (स्वविषयकाज्ञानम्) ? कथं वा असंगस्य संसारासक्तेरुदासीनस्य आत्मनः आकाशादिप्रपञ्चजनकत्वमित्येतन्महाविरोधपरिहाराय अज्ञानस्य शक्तिद्वयं निरूप्यते—अस्याज्ञानस्येति । तच्छक्तिद्वयं नामतो निर्दिशति,

आवरणेति। सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः। ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुदवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिरिति शक्तिद्वयमज्ञानस्येत्यर्थः। तत्र आवरणविक्षेपाभिधशक्तिद्वये आवरणशक्तिमादौ निरूपयति—आवरणशक्तिरिति।

अज्ञानस्येयमावरणशक्तिः प्रमातुः बुद्धिमवष्टभ्य सच्चिदानन्दस्वरूपपिधायिकेत्युच्यते। वस्तुतः अज्ञानस्य आत्माच्छादकत्वाभावेऽपि प्रमातृबुद्धिमात्राच्छादकत्वेन तस्य (अज्ञानस्य) आत्माच्छादकत्वमौपचारिकम्। तेन अपरिच्छिन्नस्य स्वप्रकाशचिद्रूपाखण्डपरिपूर्णस्वरूपस्य आत्मनः, परिच्छिन्नेन अनित्येन जडतमोरूपेण अव्यापकेन अज्ञानशक्तिविशेषेण कथमावरणमिति परास्तम्। यथा स्वल्पोऽपि मेघः नेत्रसमक्षमागत्य अनेकयोजनविस्तीर्णमपि सूर्यमण्डलं दर्शकपुरुषदृष्टिमात्राच्छादकत्वेन आच्छादयतीत्युपचर्यते तथा अज्ञानमिति तुच्छ परिच्छिन्नमपि स्वावरणशक्त्या प्रमातृबुद्धिमात्रावरकत्वेन (आच्छादकत्वेन) आत्मानमाच्छादयतीत्युपचारादुच्यते। वस्तुतः अयमात्मा नित्योपलब्धिस्वरूपः इति कदापि केनापि कथमपि पिधातुं न शक्यः नापि च सांसारिकबन्धनैर्बद्धुं शक्यः। केवलं सुकुमारबुद्धिमद्भिरेव स (आत्मा) बद्ध इव प्रतीयते। अस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिमाह—तदुक्तमिति।

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा" ॥ इति ॥
—[हस्तामलकः १०]

यथा, अतिमूढः, घनच्छन्नदृष्टिः (सन्) अर्कम्, घनच्छन्नम्, अतः निष्प्रभम्, च, मन्यते, तथा, मूढदृष्टेः, यः, (आत्मा), बद्धवत्, भाति, सः, नित्योपलब्धिस्वरूपः, आत्मा (एव) अहम् ॥ इत्यन्वयः।

आत्मनो भेदबुद्धिसमुत्पादकत्वेनेयमावरणशक्तिरेव संसारहेतुः।

अर्थात् यदा आत्मा अनया अज्ञानावरणशक्त्या युक्तो भवति तदैव सांसारिकविषयेषु सुखित्वदुःखित्वकर्तृत्वभोक्तृत्वञ्च मन्यते। किन्तु सर्वमिदं रज्जुसर्पभावनेव मिथ्या वर्तते। वस्तुतः नामरूपात्मकं समस्तं जगत् ब्रह्मैव, संसारभावना च अज्ञानमूलैवेति विभावनीयम्। सर्वमिदं 'यथा स्वाज्ञानेने'ति समुचितदृष्टान्तेनाभिहितं ग्रन्थकारेण। यदुक्तमसङ्गोदासीनस्य आत्मनः जगत्कारणत्वं कथमिति तन्निरासार्थं विक्षेपशक्तेः स्वरूपमाह—विक्षेपशक्तिस्त्विति। आब्रह्मस्थावरान्तं नामरूपात्मकस्य जगतः समुत्पादिका शक्तिः विक्षेपशक्तिः। यथा रज्जुविषयकमज्ञानं पूर्वं स्वशक्त्या रज्जुमावृणोति पश्चात् तदेवाज्ञानं निजविक्षेपशक्त्या तत्रावृते रज्जौ सर्पमुत्पादयति तथा आत्मविषयकमज्ञानमपि पूर्वं निजावरणशक्त्या आत्मानमावृणोति पश्चात् तदेव अज्ञानं निजविक्षेपशक्त्या तत्रात्मनि सूक्ष्मशरीरादारभ्य ब्रह्माण्डपर्यन्तमाकाशादिप्रपञ्चमुत्पादयति। एतादृशमज्ञानस्य सामर्थ्यम्। एषा अज्ञानशक्तिद्वयी दृग्दृश्यविवेकेऽपि 'शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिकारणम्' इत्यादिना प्रतिपादिता। अत्र ग्रंथकारः ग्रंथान्तरसम्मतीं प्रदर्शयति— तदुक्तमिति। 'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' इति—(वा० सु १३)॥ १४॥

विमला—आकाशादि समस्त प्रपञ्च का कारण आत्मा है, इस वेदान्त सिद्धान्त को सुनकर जिज्ञासा हो उठती है कि यदि आत्मा स्वप्रकाश तथा चैतन्यस्वरूप है तो वह अपने स्वरूप को क्यों नहीं जानता ? यदि वह आत्मा असंग एवं संसारासक्ति से उदासीन है तो आकाशादि प्रपञ्च की रचना क्यों करता है ? इन दोनों जिज्ञासाओं के समाधानार्थ ग्रन्थकार अज्ञान (माया–अविद्या) की दो शक्तियों का प्रतिपादन करते हैं।

अज्ञान की अपनी दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण शक्ति,

(२) विक्षेप शक्ति।

(१) आवरण शक्ति—प्रमाता की दृष्टि को आवृत (आच्छादित) कर आत्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप को ढँक देनेवाली शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं। जिस प्रकार मेघ का छोटा-सा टुकड़ा देखनेवाले की आँखों के सामने आकर उसके नेत्रपथ (मार्ग) को ढँक लेता है जिससे लगता है कि अनेक

योजन विस्तीर्ण सूर्यमण्डल को ही उसने (मेघ के छोटे से टुकड़े ने) ढँक लिया हो, इस कारण सूर्यमण्डल नहीं दिखाई दे रहा है। उसी प्रकार यह परिच्छिन्न (अपरिमित) अज्ञान भी प्रमाता की बुद्धि को ढँक लेता है जिससे ऐसा लगता है कि अपरिच्छिन्न (अपरिमित) एवं असंसारी आत्मा को ही उसने ढँक लिया हो। उसने (अज्ञान ने) तो बुद्धि को ढँका है, न कि आत्मा को, किन्तु अपनी बुद्धिके आवृत होने से आत्मा आवृत हुआ-सा लगने लगता है। वस्तुतः आत्मा तो नित्योपलब्धिस्वरूप है। वह न कभी किसी से ढँका जाता है और न सांसारिक बन्धनों से बँध सकता है। फिर भी प्राकृत (मूर्ख) लोग उसे बँधा हुआ, ढँका हुआ समझते रहते हैं। इसी बात को हस्तामलकाचार्य ने 'घनच्छन्नदृष्टिः' इस पद्य के द्वारा प्रकट किया है। अविद्या की आवरणशक्ति से सम्पन्न हुआ आत्मा स्वयं को सांसारिक विषयों का कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि समझता है। किन्तु यह सब रज्जु में सर्पभ्रम की तरह मिथ्या है। वास्तविकदृष्टि से देखा जाय तो नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, किन्तु यथार्थज्ञान न होने के कारण साधारणजन उसे सांसारिक दृष्टि से देखते हैं।

(२) विक्षेप शक्ति—अब्रह्मस्थावरान्त समस्तनाम-रूपात्मक जगत् की उत्पादक शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते हैं। जैसे रज्जुविषयक अज्ञान अपनी आवरण शक्ति के द्वारा रज्जु को प्रथम आवृत करता है, पश्चात् उस आवृत हुई रज्जु में अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा सर्पत्व की भावना पैदा करता है। वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान अपनी आवरणशक्ति से प्रथमतः आवृत किये आत्मा में पश्चात् विक्षेपशक्ति के द्वारा सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक आकाशादि प्रपञ्च की उत्पत्ति करता है। इन दोनों शक्तियों का प्रतिपादन 'दृग्दृश्यविवेक' में इस प्रकार किया गया है।

"शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥

"घनच्छन्नदृष्टिः" का अन्वितार्थ—

यथा = जैसे, अतिमूढः=अत्यन्त मूर्ख मनुष्य, घनच्छन्नदृष्टिः (सन्) = मेघ से दृष्टि ढक जाने पर, अर्कम् = सूर्यको, घनच्छन्नम् = मेघ से ढका हुआ, च = और, निष्प्रभम् = निस्तेज, मन्यते = समझता है, तथा = उसी प्रकार, मूढदृष्टेः = मूर्ख मनुष्य की दृष्टि से, यः = जो (आत्मा), बद्धवत् = बन्धन से बँधे हुए के समान, भाति = प्रतीत होता है, सः = वह, नित्योपलब्धिस्वरूपः = नित्य ज्ञानरूप, आत्मा = आत्मा (ही), अहम् = मैं हूँ ॥ १४ ॥

व्युत्पत्ति—आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति नाम की दो शक्तियाँ अज्ञान की होती हैं। उनमें से आवरणशक्ति—आत्मा के वास्तविक सत्, चित्, आनन्द स्वरूप को आवृत करनेवाली (ढकनेवाली) अज्ञानशक्ति है।

विक्षेपशक्ति—अज्ञान की प्रथमशक्तिद्वारा आवृत किये पदार्थ पर जिस दूसरी शक्ति के द्वारा ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक समस्त जगत् की सृष्टि की जाती है, उस द्वितीय शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते हैं।

अज्ञानं परिच्छिन्नमपि—अज्ञान के सम्बन्ध में परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न कुछ भी कहा नहीं जा सकता; क्योंकि वह (अज्ञान) अनिर्वचनीय है। किन्तु यहाँ पर आत्मा को अपरिच्छिन्नता की ओर ध्यान करते हुए उसे परिच्छिन्न कह दिया गया है। ॥ १४ ॥

चराऽचरात्मक प्रपञ्च के प्रति आत्मा ही निमित्तकारण और उपादानकारण है, यह अग्रिम ग्रंथ से बता रहे हैं—

(प्रपञ्चस्य निमित्तकारणमुपादानकारणञ्चात्मैव)

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति ॥ १५ ॥

सारबोधिनी—आवरण-विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपाधिना युक्त आत्मा

(ईश्वरः) प्रपञ्चस्य कारणमित्युक्तम्। तत्र किमात्मा चराचरात्मकस्य प्रपञ्चस्य निमित्तकारणमुपादानकारणं वा ? तत्र आत्मा निमित्तकारणं भवितुं नार्हति, यतः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"-(तै० उ० २।६।१) इत्युक्तं तस्य कार्यव्यापित्वं यच्छ्रूयते, तन्न सम्भवेत्। घटम्प्रति निमित्तकारणस्य दण्डादेः स्वकार्यघटादिव्यापित्वं न दृश्यते। आत्मनस्तु स्वकार्यव्यापित्वं दृश्यत इति न स निमित्तकारणम्। तथैव नित्यचैतन्यस्य आत्मनः प्रपञ्चोपादानकारणत्वमपि न सम्भवति, यतः कार्यकारणयोरभेदेन जडस्य प्रपञ्चस्यापि चैतन्यरूपत्वप्रसंगात् अनित्यत्वं न स्यात्। अतो निमित्तोपादनोभयोः कतरदपि न संभवतीत्याह—शक्तिद्वयवदिति। एक एव चेतनात्मा प्रपञ्चस्य निमित्तमुपादानञ्चोभयं कारणं भवति। तत्रोर्णनाभिदृष्टान्तम्प्रदर्शयति—यथा लूतेति।' यथा लूता (ऊर्णनाभिः) स्वस्मादुत्पद्यमानं तन्तुरूपकार्यम्प्रति स्वचैतन्यप्रधानतया निमित्तकारणं, चैतन्यं विना जडस्य देहस्य मृतशरीरवत् तन्तूत्पादकत्वासंभवात् स्वशरीरप्राधान्येन चोपादानकारणं भवति, तथा अज्ञानोपाधियुक्तः आत्मा चैतन्यप्रधानतया प्रपञ्चस्य निमित्तकारणम्, अज्ञानप्रधानतया चोपादानकारणं भवति। चैतन्यरहितं लूताशरीरं तन्तुजालं वोत्पादयितुं न शक्नोति। तच्छरीराभावे च केवलेन चैतन्यांशेनापि तन्तुजालयोरेकतरदपि निष्पादयितुं न शक्यते। अतस्तन्तुजाललक्षणकार्यम्प्रति लूतायाः (ऊर्णनाभेः) शरीरचैतन्ययोरुभयोः कारणत्वेऽपि चैतन्यप्राधान्येन लूताशरीरस्य निमित्तत्वम्, यतश्चैतन्यशून्येन शरीरमात्रेण तन्तुजालनिष्पादनाऽसम्भवात्। शरीरप्राधान्ये च लूतायाः (ऊर्णनाभेः) साक्षात् सम्बन्धितया तन्तूपादानत्वम्। तदवच्छिन्नस्य चैतन्यस्यापि (शरीरनिष्ठस्यात्मनोऽपि) परम्परया तन्तूपादानकारणत्वमौपचारिकम्। अनेनैव प्रकारेण आत्माऽपि (ईश्वरोऽपि) स्वचैतन्यप्राधान्येन चराचरप्रपञ्चस्य निमित्तकारणं, स्वोपाधिभूताऽज्ञानप्राधान्येन च चराचरप्रपञ्चस्योपादानकारणम्। इदमत्र बोध्यं, समस्तमिदं जगत् अज्ञानजन्यम्। अज्ञानञ्च जगतः उपादानकारणम्। अज्ञानञ्चाऽऽत्मनिष्ठमिति आत्मनोऽपि (ईश्वरस्यापि) पारम्परिकं जगदुपादानत्वं न विरुद्धम्। यथोर्णनाभिः तुरीवेमादिबाह्यसाधनानि निरपेक्ष्यैव तन्तुं जालं वा निष्पादयितुं शक्नोति, तथैवात्मा(ईश्वरः)ऽपि सृष्ट्यादौ एकाकी एव स्वोपाधिभूतया मायया (अज्ञानेन) सूक्ष्मशरीरादारभ्य ब्रह्माण्डान्तं स्थूलं जगदुत्पादयति।

मुण्कोपनिषदि (१।१।६) 'यथोर्णनाभि'रित्यादिना एतदेव प्रपञ्चितम् । एवञ्चैकस्योभयविधकारणात्मकत्वम् । यदुक्तं चैतन्यस्यात्मनो निमित्तकारणत्वे कार्यानुप्रवेशो न स्यादिति, तन्न । 'कारणगुणा: कार्यगुणानारभन्ते' इति प्रदर्शितस्य (कारणस्य) कार्यानुप्रवेशनियमस्य उपादानकारणविषयत्वेन निमित्तकारणविषयत्वाभावात् । "तत्सृष्ट्वा"—(तै० २।६।१) इत्यादिश्रुतेरपि उपादानकारणपरत्वात् । यदुक्तमात्मन: उपादानकारणत्वे प्रपञ्चस्य अनित्यत्वं न स्यादिति तदपि न । श्रुते: परिणामविषयत्वेन विवर्तविषयत्वाभावात् । प्रपञ्चस्य तु ब्रह्मविवर्तत्वात् तस्य न नित्यत्वचेतनत्वप्रसङ्ग: । अयम्प्रपञ्च: ब्रह्मणो विवर्त:, न परिणाम: । अत: प्रधानकारणाज्ञानापेक्षया परम्परया कारणत्वेन सम्बद्धस्यास्यात्मन: (ब्रह्मण:) न उपादानत्वेऽपि न तत्र (प्रपञ्चे) चैतन्यनित्यत्वादिप्रसङ्ग: ।(विवर्तत्वं च स्वस्वरूपाऽपरित्यागेन स्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वम्) रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यनिष्ठस्य अज्ञानस्य रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पादिस्वरूपान्तरप्रदर्शनवत्, ईश्वरचैतन्यनिष्ठाज्ञानशक्तेरपि चैतन्यस्वरूपस्य अपरित्यागेन आकाशादिस्वरूपान्तराकारेण प्रपञ्चदर्शकत्वात् अस्याकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वं न सम्भवति, अज्ञानस्य स्वयं मिथ्यात्वेन तज्जन्यस्य आकाशादिप्रपञ्चस्यापि मिथ्यात्वात् । अज्ञानस्य मिथ्यात्वे तत्प्रयुक्तयोर्बन्धमोक्षयोरपि मिथ्यात्वप्रसङ्गो नापादनीय:, इष्टापत्ते: । तथा च श्रीमद्भागवते "बुद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुत: । गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ।।" इतीष्टापत्ति: समर्थितैवेति दृश्यते ।। १५ ।।

विमला—आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञानरूप उपाधि से विशिष्ट आत्मा आकाशादि समस्त प्रपञ्च का कारण है, यह पहले कहा जा चुका है। अत: जिज्ञासा यह है कि अज्ञानोपाधिविशिष्ट वह आत्मा आकाशादिप्रपञ्च का निमित्तकारण है या उपादानकारण है ? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ यह विचार किया जा रहा है कि उस आत्मा को यदि प्रपञ्च का निमित्त कारण मानते हैं तो "तत्सृष्ट्वा" इस श्रुति ने आत्मा की जो सर्वकार्यव्यापिता बताई है, वह न बन पायेगी; क्योंकि लोक-व्यवहार में घटादिकार्यों के निमित्तकारणभूत दण्डादि में घटादिकार्यव्यापिता दिखाई नहीं देती । किन्तु आत्मा

(ब्रह्म) तो अपने कार्य आकाशादि प्रपञ्च में व्याप्त हुआ दिखाई देता है। इसलिए उसे (आत्मा को) आकाशादि प्रपंच का निमित्तकारण नहीं कह सकते। इस लिए उस आत्मा को आकाशादिप्रपंच का यदि उपादानकारण कहें, तो वह भी नहीं बन पाता; क्योंकि कार्य-कारण में अभेद होने से जड़-प्रपंच को भी चेतन तथा नित्य कहना पड़ेगा। ब्रह्म के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपंच तो जड़ और अनित्य है, यह सिद्धान्त है। एवंच आत्मा न निमित्तकारण और न उपादानकारण ही हो सकता है। दूसरी बात यह हो सकती है कि 'कारणगुणा हि कार्यगुणान् आरभन्ते' इस नियम के अनुसार कारण के गुण कार्य में आते हैं, जिससे जड़ प्रपंच में चेतनता तथा नित्यता माननी होगी। तब प्रपंच को नश्वर नहीं कह सकेंगे। इस शंका का समाधान "शक्तिद्वयवत्" ग्रंथ से किया गया है। एक ही चेतन आत्मा, प्रपंच का निमित्तकारण तथा उपादानकारण दोनों है। जैसे एक ही मकड़ी अपने से पैदा किये गये तन्तु या जालरूप कार्य की चैतन्यप्रधानता के कारण निमित्तकारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादानकारण भी है। वैसे ही अज्ञानोपाधि से युक्त हुआ आत्मा अपने स्वरूप चैतन्य की प्रधानता के कारण प्रपंच का निमित्तकारण है और अपनी उपाधिरूप अज्ञान की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है। मकड़ी में यदि चैतन्य न हो तो केवल शरीर से (चैतन्य शून्य शरीर से) तन्तु या जाल पैदा नहीं होगा और यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्यांश से भी तन्तु या जाल पैदा नहीं हो सकेगा। अतः तन्तु या जालरूपी कार्य के पैदा होने में मकड़ी का चैतन्यांश और शरीर दोनों ही कारण होते हैं। बात इतनी ही है कि चैतन्य की प्रधानता के कारण मकड़ी का शरीर, तन्तु या जाल का निमित्तकारण कहा जाता है, क्योंकि यदि चेतनता न हो तो जड़ शरीर से तन्तु या जाल निकल नहीं सकता और शरीर की प्रधानता के कारण (शरीर का साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण) वही (मकड़ी) उपादानकारण भी है। इस रीति से शरीरस्थित आत्मा भी तन्तु या जाल का उपादान-कारण होता है। उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी चैतन्य-प्रधानता के कारण चराचर-प्रपंच का निमित्तकारण है और अज्ञान-प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्रपंच अज्ञान (माया) से उत्पन्न हुआ है। अज्ञान (माया) प्रपंच का उपादान-

है और अज्ञान, आत्मनिष्ठ है, इसलिए उस मायावी ईश्वर को प्रपंच का परम्परया उपादानकारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। जैसे मकड़ी, रुई, तुरी, वेमा आदि बाह्य उपकरणों के बिना भी तन्तु या जाले को बना लेती है वैसे ही सृष्टि के पूर्व अकेले, निरपेक्ष आत्मा ने (ईश्वर ने) भी बाह्य उपकरणों के बिना ही अपनी माया शक्ति से सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक स्थूल प्रपंच की सृष्टि निर्माण की। मुण्डकोपनिषद् में भी इसी बात को बताया गया है—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥" एवं च आत्मा (ईश्वर) में उभयकारणता सिद्ध हो जाती है। फिर भी सन्देह होता है कि ईश्वर को निमित्तकारण मानने पर उसकी कार्यव्यापिता नहीं हो सकेगी, तब 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह श्रुति कैसे लग सकेगी? इस सन्देह का निराकरण इस रीति से होगा कि उक्त श्रुति का तात्पर्य उपादानकारण में है अर्थात् वह श्रुति उपादानकारणविषयक है। प्रपंच के कण-कण में आत्मा (ईश्वर) उपादानकारणरूप से व्याप्त (प्रविष्ट) है। इस पर यदि कहें कि अविनाशी चेतन ईश्वर सर्वत्र कण-कण में व्याप्त है तो प्रपंच भी चेतन अविनाशी होगा, जड़ नश्वर नहीं। क्योंकि उसका उपादान चेतन अविनाशी है। किन्तु यह कथन उचित न होगा, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा' यह श्रुति परिणामविषयक है, विवर्तविषयक नहीं। जो जिसका परिणाम (जैसे दूध का दही) होता है उसमें उपादानकारण के गुण रहा करते हैं, किन्तु जो जिसका विवर्त होता है (जैसे रज्जु में सर्प) उसमें कारण के गुण नहीं रहते। यह जड़ प्रपंच, ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं है, इस प्रपंच का प्रधान कारण अज्ञान है और ब्रह्म तो परम्परया कारण है, साक्षात् नहीं। जैसे जड़ लोहा चुम्बक के सान्निध्य से सक्रिय हो जाता है वैसे ही चैतन्य (ईश्वर) के सान्निध्य से जड़ अज्ञान भी सक्रिय हो जाता है और समस्त प्रपंच की सृष्टि करने लगता है। अतः अज्ञान तो प्रपंच का साक्षात् कारण है और ब्रह्म परम्परया कारण है। अतः उस ब्रह्म के उपादानकारण होने पर भी प्रपंच में उसके (ब्रह्म के) गुण (चैतन्य, नित्यता) नहीं आ सकते। विवर्त का

स्वरूप ही यह है कि जो अपने स्वरूप का परित्याग बिना किये ही अन्य रूप (रूपान्तर) को भी प्रदर्शित करे, उसे विवर्त कहते हैं। जैसे चैतन्यनिष्ठ रज्जु-विषयक अज्ञान रज्जु के रूप का परित्याग न करता हुआ अन्य रूप अर्थात् सर्प को भी प्रदर्शित करता है, वैसे ही ईश्वर चैतन्यनिष्ठ अज्ञानशक्ति भी चैतन्य स्वरूप का परित्याग न करती हुई आकाशादि रूपान्तरों को भी प्रदर्शित करती है। आकाशादि प्रपंच, ब्रह्म का विवर्त है, अतः वह नित्य अविनाशी या चेतन नहीं हो सकता। प्रपंच का प्रधान उपादानकारण अज्ञान तो स्वतः मिथ्या है, इसीलिए उससे उत्पन्न हुआ प्रपंच भी मिथ्या है। अभी तक अज्ञान की आवरणशक्ति के कार्य का निरूपण किया गया, दूसरे शब्दों में यदि कहें तो जगत् का कारण चैतन्य ब्रह्म ही है और दृश्यमान यह समस्त प्रपंच उसी का (ब्रह्म का) कार्य है ॥ १५ ॥

व्युत्पत्ति—निमित्तम्-उपादानं च—प्रत्येक कार्य का कोई निमित्तकारण और कोई उपादान कारण होता है। उनके बिना कोई कार्य पैदा हो ही नहीं सकता। जैसे घट का निमित्तकारण कुलाल आदि और उपादानकारण मृत्तिका आदि। उसी तरह प्रकृत में मकड़ी जब चाहती है तब अपने मुँह से जाला उगलती-उगलती नीचे तक लटक जाती है और जाला बुन डालती है। जब उसे नष्ट करना चाहती है तब वह उस जाले को मुँह से समेटती-समेटती ऊपर उठ जाती है। इस रीति से उस जाले की, वह मकड़ी अपनी चेतनता की दृष्टि से निमित्तकारण है और अपने शरीर की दृष्टि से उपादानकारण भी है। उसी प्रकार ईश्वरचैतन्य भी अपनी चेतनता की दृष्टि से प्रपंच का निमित्तकारण है और अज्ञान (माया) की दृष्टि से उपादानकारण भी है ॥ १५ ॥

अज्ञान की विक्षेप नामक शक्ति का काम बता रहे हैं—

सृष्टिक्रम

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिश्रुतेः।

तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य । तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते । एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते । एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते ॥ १६ ॥

सारबोधिनी—अधुना अज्ञानस्य विक्षेपाभिधायाः शक्तेः कार्यं (कार्यभूतस्य जगतः उत्पत्तिम्) निरूपयति—तमः प्रधानेति । विक्षेपशक्तिः यद्यपि तमोगुणप्रधानास्ति तथापि तस्यां रजस्सत्त्वयोरपि किंचित् सत्ता भवति । अतः 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति नियममनुसृत्य यत्किञ्चिद्रजस्सत्त्वसत्तासम्पन्नया तमोगुणप्रधानया विक्षेपशक्त्या सहितः यः अज्ञानोपाधिः तेन विशिष्टस्यैव चैतन्यस्य (आत्मन एव) आकाशादिप्रपंचोत्पादकत्वम् । अर्थात् एतादृशाज्ञानोपहितचैतन्यात् (आत्मनः सकाशात्) आकाशः, आकाशाद् वायुः, वायोः सकाशाद् अग्निः, अग्नेः सकाशात् जलम्, जलात् पृथिवी चोत्पद्यते । एवञ्च आकाशादिप्रपंचस्य जडत्वात् तमोगुणप्रधानविक्षेपशक्तिविशिष्टाज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्यैवाकाशादिप्रपंचजनकत्वं सिद्ध्यति । अत्रार्थे श्रुतिम्प्रमाणयति—"तस्माद्वे"ति ।—(तै० २।१।१) । इति प्रतिपादनेन सांख्य–नैयायिकपक्षौ निरस्तौ वेदितव्यौ । सांख्यास्तावत् जडस्य प्रधानस्यैव प्रपंचकारणत्वं वदन्ति नैयायिकास्तु जडानां परमाणूनां प्रपञ्चकारणत्वं वदन्ति । किन्तु शक्तेरज्ञानस्य शक्तिमत्परतन्त्रत्वात् । स्वतन्त्रस्य तस्य केवलस्य (प्रधानस्य परमाणूनां वा) जडस्य अज्ञानस्य प्रपंचकारणत्वानुपपत्तेः । "ईक्षतेर्नाशब्दम्"—(ब्र० सू० १।१।५), "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्"—(ब्र० सू० २।२।१) इत्यादिन्यायनिरस्तत्वाच्च । अभिन्ननिमित्तोपादानप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०"—(तै० ३।१।१) "सदेवसोम्येदमग्र आसीत्"—(छां० ६।२।१) "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"—(मुण्ड० २।१।३) "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते"–(गी० १०।८), "बीजं मां सर्वभूतानाम्"—(गी० ७।१०) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः ईश्वरस्यैव जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्यते । एवं च श्रुतिविरुद्धत्वात् न्यायविरुद्धत्वाच्च प्रधानवादः परमाणुवादश्च निरस्तौ

भवति । न हि अचेतनं चेतनानधिष्ठितं किंचित्कुर्वदुपपद्यते रथादावदर्शनात् । अतो न प्रधानवाद आश्रयणीयः । तथा परमाणुवादोऽपि । अण्वोर्द्वयोः संयोगस्य अव्याप्यवृत्तित्वे तयोः सावयवत्वापत्तेः अनित्यत्वप्रसङ्गः । तत्संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे निरवयवयोः अण्वोः एकस्मिन् इतरस्य सम्मितत्वात् प्रथिमानुपपत्तिः । तथा च तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्यापि पारिमाण्डल्यप्रसङ्गः । किंच द्व्यणुकारंभसमये परमाणु कथञ्चिद् विक्रियेते न वा ?/आद्येऽनित्यत्वादिदोषापत्तिः मृत्पिण्डादिवत् । द्वितीये परमाणुसमूह एव द्व्यणुकादिका स्यात्, तृणतूलवत् । अतः परमाणुवादोऽपि नाश्रयणीयः । तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितं चैतन्यम्, आकाशादिप्रपंचकारणमित्युक्तं, तत्कथमवगम्यते यत् आकाशादिभूतानां कारणरूपे अज्ञाने तमःप्राधान्यमिति तत्राह—"तेषु चेति" । "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते" इति न्यायात् तत्र तमःप्राधान्यमवगम्यते । जाड्याधिक्यदर्शनादित्यत्र आधिक्यशब्दं प्रयुञ्जानः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन कार्येषु चैतन्यस्यापि ईषदनुवृत्तिं सूचयति । तथा चाहुस्तत्त्वदर्शिनः—

"अस्ति भाति प्रिय रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् ।
आद्य त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् " ॥इति॥ (दृग्दृश्यवि० ६)

ननु अज्ञानस्य त्रिगुणात्मकत्वात् कथं तमोगुणमात्रप्राधान्येन आकाशादिप्रपंचोत्पादकत्वमित्याशंक्याह—"तदानीमिति" । तदानीमुत्पत्तिवेलायां सत्त्वादयः त्रयोऽपि गुणाः तारतम्येन कारणगुणप्रक्रमन्यायेन तेषु आकाशादिषु पंचभूतेषु उत्तरोत्तराधिक्येन जायन्ते । इमानि एव सूक्ष्मशरीरादिकारणभूतानि अपंचीकृतानि सूक्ष्मरूपपंचभूततन्मात्राणीत्युच्यन्ते इत्याह—"एतान्येवेति" । अव्याकृतात् पंचतन्मात्राणि क्रमेण जायन्ते इति स्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धिः, तत्कथमाकाशादेरिहोत्पत्तिर्वर्णितेति शङ्का निरस्ता भवति, यतः एतान्येव आकाशादीनि सूक्ष्मभूतानि व्यवहाराक्षमाणि तन्मात्राणि शब्दादितावन्मात्रैकस्वभावानि अपंचीकृतानि परस्परमसंसृष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते महर्षिभिः । तदुक्तमात्मबोधे—"पंचप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् । अपंचीकृतभूतोऽत्थं सूक्ष्माङ्गम् भोगसाधनम्" । तदेवंभूताध्यारोपं श्रोतमनुक्रम्य इदानीं भौतिका-

ध्यारोप प्रतिजानीते—"एतेभ्य" इति । एतेभ्य: सूक्ष्मभूतेभ्य: (अपंचीकृतपंच-भूतेभ्य:) अपंचीकृतसूक्ष्मशरीराणि तथा पंचीकृतस्थूलभूतेभ्य: स्थूलशरीराणि चोत्पद्यन्ते ॥ १६ ॥

विमला—अज्ञान की विक्षेपशक्ति का कार्य (जगत् की उत्पत्ति) बताते हैं । अज्ञान की विक्षेपशक्ति में यद्यपि तमोगुण की प्रधानता रहती है, तथापि रजस्, सत्त्व की भी किंचित् सत्ता उसमें विद्यमान रहती है । अत: 'कारण के गुण कार्य में अवश्य ही आते हैं' इस कारण गुणप्रक्रम के नियमानुसार यत्-किंचित् रजोगुण, सत्त्वगुण से सम्पन्न किन्तु तमोगुण की प्रधानता से युक्त विक्षेपशक्तिवाले अज्ञान की उपाधि से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य (आत्मा) ही आकाशादिप्रपंच का जनक है । अर्थात् विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञानोपाधि से अवच्छिन्न हुए चैतन्य (आत्मा) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है । आकाशादिप्रपंच की जड़ता को देखकर समझ में आता है कि चैतन्य की अज्ञान-उपाधि में जो विक्षेपशक्ति है उसमें भी अवश्य तमोगुण की प्रधानता होगी । यह बात "तस्माद् वा" इस श्रुति से भी ज्ञात होती है । उपर्युक्त अभिप्राय से स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य तथा नैयायिकों का जगदुत्पत्ति के कारण के विचार में प्रधानवाद तथा परमाणुवाद ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुति-स्मृतियों के द्वारा चैतन्य (ईश्वर, आत्मा) को ही जगत् का कारण होना बताया गया है । अत: श्रुति तथा न्याय के विरुद्ध होने से प्रधानवाद और परमाणुवाद को ठीक नहीं समझा जाता । रथ शकट आदि अचेतन (जड) पदार्थ किसी चेतन से अधि-ष्ठित हुए बिना चलते नहीं दिखाई देते । उसी तरह परमाणुवाद भी असंगत है, क्योंकि दो अणुओं के संयोग को अव्याप्यवृत्ति यदि कहें तो उन अणुओं को सावयव कहना और सावयव मानने पर उन्हें अनित्य मानना पड़ेगा । यदि दो अणुओं के संयोग को व्याप्यवृत्ति मान लिया जाय तो निरवयव दो अणुओं में से एक में दूसरे के सम्मिलित हो जाने से स्थूलता नहीं आवेगी, उससे अणु के कार्यरूप द्व्यणुक में भी परमाणु-परिमाणता प्राप्त होगी । दूसरी बात यह है कि द्व्यणुकारंभ के समय दो परमाणुओं में कुछ विकार होता है या नहीं ? यदि उनमें विकार होना माना जाय तो उनमें अनित्यतादिदोष

मृत्पिण्डादि के समान मानने होंगे। यदि उनमें विकार होना न माना जाय तो परमाणुसमूह को ही तृण-तूलके समान द्व्यणुकादि कार्यरूप मानना होगा। अतः परमाणुवाद भी संगत नहीं है। आकाशादिभूतों के कारणरूप अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता है, यह कैसे ज्ञात हुआ? तो कारणगुणप्रक्रमन्याय से उसमें तमोगुण की प्रधानता ज्ञात होती है। 'जाड्याधिक्यदर्शनात्' यहाँ पर 'आधिक्य' पद के प्रयोग से सूचित होता है कि कार्य में सत्तास्फूर्ति के कारण चैतन्य की भी किंचित् अनुवृत्ति रहती है। 'अस्ति भाति प्रियं रूप', के द्वारा तत्त्वदर्शी विद्वानों ने भी इसी बात को बताया है। फिर भी एक शंका यह होती है कि अज्ञान तो त्रिगुणात्मक है, तब तमोगुण की प्रधानता से उसे आकाशादिप्रपंच का उत्पादक क्यों कहा गया है? वह इसलिए कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय अपने-अपने कारण के सत्त्वादि तीनों ही गुणों के अनुरूप उत्तरोत्तर अधिकता से उन आकाशादि में सत्त्वादि तीनों ही गुण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं अपंचीकृत सूक्ष्म पंचभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) को क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रस-तन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा कहते हैं। इन्हीं सूक्ष्मभूतों (अपंचीकृत पंचभूतों-पंचतन्मात्राओं) से अपंचीकृतसूक्ष्मशरीर तथा पंचीकृत स्थूलभूतों से स्थूल-शरीर उत्पन्न होते हैं।

व्युत्पत्ति—आकाशः उत्पद्यते—वेदान्तदर्शन में आकाशादि को नित्य नहीं मानते।

कारणगुणप्रक्रमेण—कारण के गुण कार्य के गुणों को पैदा करते हैं। कारण यदात्मक होता है, तदात्मक ही कार्य होता है। चैतन्य के उपाधिभूत अज्ञान में सत्त्व और रजस् की अपेक्षा तमोगुण की प्रबलता (अधिकता) रहती है। इसीकारण उससे उत्पन्न होने वाले आकाशादि में भी तमोगुण की प्रबलता (अधिकता) रहती है॥ १६॥

सूक्ष्मशरीर-स्वरूपभूत अवयवों को बता रहे हैं—

(सप्तदशावयवात्मकं लिङ्गशरीरम्)

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपंचकं

चेति । ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि । एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते । बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः । मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः । अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः । एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते । एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम् । इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति । अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते । मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति । कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः । प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती । अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती । व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती । उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः । समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः । केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति । तत्र नाग उद्गिरणकरः । कूर्म उन्मीलनकरः । कृकलः क्षुत्करः । देवदत्तो जृम्भणकरः । धनञ्जयः पोषणकरः । एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित् । एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यते । इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः

सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति । अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम् । एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः । मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः । प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः । योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति । एतत्कोशत्रयं मिलितं सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते ॥१७॥

सारबोधिनी—लिङ्गशरीरं निरूपयति—सूक्ष्मशरीराणीति । सूक्ष्मशरीराणां सप्तदश अवयवाः सन्ति । सूक्ष्मशरीराण्येव लिङ्गशरीराणीत्युच्यन्ते । (लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भावः एभिरिति लिङ्गानि,) तानि च तानि शरीराणि च शरीर-प्रतिष्ठत्वाच्छरीरसाधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेण लिङ्गशरीराणि । सूक्ष्मशरीरस्वरूपभूतान् अवयवानाह-अवयवास्त्विति । पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, बुद्धिमनसी, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चवायवश्चेति मिलित्वा सप्तदश अवयवा भवन्ति । तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि सन्ति । ज्ञानसाधनानि इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकेन्द्रियत्वानि प्रत्येकं यथाक्रमं लक्षणानि । इन्द्रियाणि आहङ्कारिकाणीति सांख्याः तान् निराकुर्वन् तेषां भौतिकत्वं साधयति—एतानीति । कारणगुणेन उत्पन्नत्रिगुणानां भूतानां सत्त्वगुणादच्छिन्नेभ्यः अंशेभ्यः गुणोद्रेककृतभागेभ्यः श्रोत्रादीनि जातानि । अर्थात् सात्त्विकांशात् आकाशात् श्रोत्रमुत्पद्यते, सात्त्विकांशाद्वायोः त्वगिन्द्रियं, सात्त्विकांशात् तेजसः चक्षुः, सात्त्विकांशात् जलात् जिह्वा, सात्त्विकांशायाः पृथिव्याः सकाशात् घ्राणेन्द्रियं चेति क्रमेणोत्पद्यन्ते । बुद्धेर्लक्षणमाह—बुद्धिर्नामेति । (ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरेव बुद्धिः ।) मनसो लक्षणमाह—मनोनामेति । संकल्पः इदं नीलं, इदं पीतमिति विषयविवेचनम् । विकल्पस्तद्विपर्यय इति भेदः । (अहं चिद्रूपः देहो वेति संशयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरेव मन इत्यर्थः ।) ननु अन्तःकरणस्य चतुष्टयत्वप्रसिद्धेः कथमिह द्वयमेव गृहीतमित्याह—अनयोरेवेति । (अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः चित्तम् ।) (अभिमानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः अहङ्कारः ।) चित्तस्य बुद्धौ अन्तर्भावः विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशेषात्, इदमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदः । अहङ्कारस्य मनसि अन्तर्भावः

तस्यापि सङ्कल्पात्मकत्वाविशेषात् । एवञ्च स्मरणात्मकस्य चित्तस्य गर्वात्मकाहङ्कारस्य च बुद्धिमनसोरन्तर्भाव इत्यर्थः । यद्यपि अन्तःकरणत्वेन चतुर्णामेकत्वं तथापि एकस्यैव पुरुषस्य पाचकः, पाठकः इत्यादिवृत्तिभेदात् भेदवत् एकस्यापि अन्तःकरणस्य निश्चय-संशयस्मरणाहङ्कारविषयभेदैर्बुद्ध्यादिभेदः । बुद्धेर्हि अपूर्वो विषयः, चित्तस्य पूर्वानुभूतः । तथा मनसो बाह्यः आभ्यन्तरश्च सर्वो विषयो यथायोगम् । अहङ्कारस्य तु अनात्मोपरक्त आत्मैव । अतो विषयभेदेऽपि स्वरूपाऽभेदात् युक्तोऽन्तर्भावः । एवं स्वरूपाभेदेऽपि विषयभेदात् क्वचित् क्वचित् चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनोभ्यां पृथङ्निर्देशः क्रियते । चतुर्णामपि अन्तःकरणभेदानां भौतिकत्वमाह—एते पुनरिति । पूर्ववत् एतानि चत्वारि आकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते । तत्र मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः प्रकाशात्मकाः, एतदेव एतेषां ज्ञानेन्द्रियाणाञ्च महाभूतसात्त्विकांशकार्यत्वे प्रमाणम् । सर्वकार्यभूतः प्रकाशः इन्द्रियान्तःकरणेषु उपलभ्यमानः तेषां सत्त्वकार्यतां गमयतीत्यर्थः । निरूप्यमाणे लिङ्गशरीरे उक्तैरवयवैः सिद्धमवान्तरभेदं बुद्धेर्विज्ञानमयकोशत्वं दर्शयति—इयं बुद्धिरिति । बुद्धिग्रहणेन अर्थात् मनोवृत्तिरभिप्रेता न बुद्धेः सत्त्वकार्यत्वात् ज्ञानेन्द्रियसाहित्येन प्रकाशाधिक्याद् विज्ञानमयत्वम्, आत्माच्छादकत्वाच्च कोशत्वमित्यर्थः । एवञ्च ज्ञानेन्द्रियसहितबुद्धिर्विज्ञानमयकोश इत्युच्यते । विज्ञानमयकोशयुक्तं चैतन्यं कर्तृत्वभोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्वाद्यभिमानित्वेन स्वर्गादिलोकान्तरगामि भवति । व्यावहारिकदशायां च एतदेव विज्ञानमयकोशयुक्तं चैतन्यं जीवसंज्ञां प्राप्नोति । अर्थात् विज्ञानमयकोशावच्छिन्नः चिदात्मा व्यावहारिको जीव इत्युच्यते । विशुद्ध-बुद्धि-प्रतिबिम्बितः चिदात्मा जीव इत्यर्थः । व्यवहारमेव विशेषणान्तरेण व्यनक्ति—इहलोकेति । तत्र हेतुमाह—कर्तृत्वेति । तप्तायःपिण्डवत् बुद्ध्यारोपितं चैतन्यं वस्तुतः अकर्तृभोक्तृनित्यानन्दापरिच्छिन्नमक्रियमपि भोक्तृत्वकर्तृत्वदुःखित्वपरिच्छिन्नत्वक्रियावत्वाद्यभिमानेन स्वर्गादिलोकान्तरगामित्वं व्यावहारिक-जीवत्वं लभते इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च"—(तै० २।५।१) कर्तृत्वादिकं चैतन्यात्मनो न वास्तवं, किन्तु आभिमानिकम् । तथा च श्रुतिः—"स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव"—(बृह० उ० ४।३।७) । इव शब्देन व्यवहारस्य आभासता प्रदर्शिता । तथा न्यायो च "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्",

"यथा च तक्षोभयथा" इति च कर्तृत्वाकर्तृत्वयोः व्यावहारिकपारमार्थिकत्वे व्यवस्थापयतः। पूर्ववत् मनःसम्बद्धमवान्तरभेदं मनोमयकोशं निरूपयति—मनस्त्विति। सत्त्वगुणांशोत्पन्नत्वेन सत्त्वगुण-प्रधानं, चक्षुः-श्रोत्रादि-ज्ञानेन्द्रियसहितञ्च मनो मनोमयकोश इत्युच्यते। मनसः सत्वगुणांशकार्यत्वेऽपि रजोविकारेच्छारूपित्वेन संकल्पविकल्पात्मकत्वात् बुद्ध्यपेक्षया अधिकजडत्वाच्च मनोमयत्वम्, चैतन्याच्छादकत्वाच्च कोशत्वम्। कर्मेन्द्रियाणि निरूपयति—कर्मेन्द्रियाणीति। (कर्मसाधनानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि, तानि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। वचनादानगमनविसर्गानन्दसाधनेन्द्रियत्वं यथाक्रमं वागादीनां प्रत्येकं लक्षणम्। एतेषामुत्पत्तौ साधनापेक्षायामाह—एतानीति। वागादिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि आकाशादिरजोगुणांशेभ्यः क्रमशः पृथक् पृथक् उत्पद्यन्ते। आकाशादिभूतेषु सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानां विद्यमानत्वेऽपि तेषु रजोगुणबाहुल्यात् तत्कार्यभूतेषु वागादिषु रजोगुणांशस्याधिक्यम्। तथा च—रजोगुणप्रधानात् आकाशाद् वाक् उत्पद्यते, रजोगुणप्रधानाद्वायोः पाणीन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानात् अग्नेः पादेन्द्रियम्, रजोगुणप्रधानात् जलात् पाय्विन्द्रियं, रजोगुणप्रधानायाः पृथिव्याः गुह्येन्द्रियमुत्पद्यते। एवञ्चेन्द्रियाणां भौतिकत्वं स्थितं भवति। अधुना वायुपञ्चकं विभजते—वायव इति। प्राणाख्यः, अपानाख्यः, व्यानाख्यः, उदानाख्यः, समानाख्यः इति पञ्च वायवः सन्ति। यथोद्देशम्प्राणस्य लक्षणमाह—प्राणो नामेति। प्राग्गमनमग्रतो निःसरणं यद्यपि "प्राणो हृदये"—(तै० ब्रा० ३।१०।८।५) इति श्रुतेः हृदयस्थानः प्राणः, तथापि नासाग्रे प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वात् नासाग्रस्थानवर्तीत्युक्तम्। अपानस्य लक्षणमाह—अपानो नामेति। अधो नाभेः अधस्ताद्गमनवान् मलापयनव्यापारेण। पायुर्गुदं तत्स्थानवर्तीत्यर्थः। आदिशब्दादुपस्थग्रहः। तत्रापि मूत्ररेतोविसर्गस्य अपानकर्मत्वात्। एवञ्च अधोगमनशीलः पाय्वादिस्थानी वायुः अपानः। व्यानस्य लक्षणमाह—व्यानो नामेति। विष्वक् परितः सर्वतो गमनं विद्यते यस्य सः तथा। प्राणापाननियमनकर्मारण्यामग्न्युत्पादनादिवीर्यवत्कर्महेतुत्वात् अखिलशरीरवर्ती व्यानाख्यो वायुः। उदानस्य लक्षणमाह—उदानो नामेति। ऊर्ध्वमुत्क्रमणशीलः कण्ठस्थानी वायुः उदानः। समानस्य लक्षणमाह—समानो नामेति। अशितादेः

सम नयनात् समानः। शरीरमध्यगतान्नरसादिनेता वायुः समान इत्यर्थः। प्राणादिवायूनां वायुत्वेन रूपेण एकत्वेऽपि क्रियाभेदेन भेदः। स्वमतपरिशुद्धये मतान्तरमुत्थापयति—केचित्त्विति। कापिलमतानुसारिणः क्रियाभेदेन अन्येऽपि पञ्चवायवः सन्तीति वदन्ति। तान्येव नामतो निर्दिशति—नाग इत्यादि। तथाचोक्तम्—"उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः। कृकलस्तु क्षुति ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः॥" इति।—(गोरक्षाष्टक १५, ३६)। उद्गिरणं छर्दिः। उन्मीलनशब्दः निमीलनस्यापि उपलक्षणपरः। उत्थापितं मतं प्रत्याचष्टे—एतेषामिति। केचित् [illegible] औपनिषदविषयः। वेदान्तिनः नागादीनां वायूनां प्राणादिपञ्चकेष्वेव अन्तर्भावं कथयन्ति। उद्गिरणं हि ऊर्ध्वमुखस्य वायोः क्रिया, ऊर्ध्वमुखो वायुः उदान इत्युक्तम्। तथा च उदानेनैव उद्गिरणस्यापि सिद्धौ नागस्य तत्कर्तुरुदाने अन्तर्भावात् न ततः पृथक्त्वम्। उन्मीलनस्य अङ्गचेष्टान्तर्गतत्वात् तस्याश्च व्याननिमित्तकत्वात् उन्मीलनकर्तुः कूर्मस्य व्याने अन्तर्भावः। समानेन अशितपीतादीनां पाकेन रसादिभावमापाद्य सकलशरीरदेशेषु तत्प्रवेशने कृते सत्येव क्षुधोत्पत्तेः तत्कर्तुः कृकलस्य समाने अन्तर्भावः। जृम्भणस्य निद्रालस्यादिहेतुकत्वात् निद्रालस्यादेश्च दातुलाद्यन्नोपजीवननिमित्तकत्वात् अन्नस्वीकरणस्य च अपानकर्मत्वात् अपाने एव परम्परया जृम्भणहेतोः देवदत्तस्य अन्तर्भावः। अपानाख्यस्य अन्तर्मुखतया शरीरान्तः प्रविशतः वायोः अन्नस्वीकरणहेतुत्वमैतरेयके समाम्नायते—"तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्"—(ऐत० ३।१०) रसलोहितमांसादिक्रमेण शरीरे अन्नपरिणामे सत्येव पोषणापरपर्यायाः पुष्टेः सम्भवात् रसादिनयनकर्तरि समाने धनञ्जयस्य अन्तर्भावः। तथा च प्राणादीनामेव यथायथं उद्गारादिक्रियानिमित्ततया अवस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अपि उपपत्तौ तत्त्वान्तरकल्पनं तेषां गौरवमप्रामाणिकम्। प्राणादिवायूनामुत्पत्तौ कारणापेक्षायामाह—एतत्प्राणादीति। अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः रजःप्रधानेभ्यः प्राणादयः उत्पद्यन्ते। एतेषां प्राणादीनां प्राणप्रचुरत्वात् प्राणमयत्वम् आत्माच्छादकत्वात् कोशत्वं च भवतीत्याह—इदं प्राणादीति। कर्मेन्द्रियसहिताः पञ्चप्राणाः प्राणमय कोश इत्युच्यते। प्राणादीनां क्रियात्मकत्वात् रजःकार्यत्वम्। तत्र एतेषु त्रिषु विज्ञा-

मय-मनोमय प्राणमयकोशेषु विज्ञानमयकोशः ज्ञानशक्तिसम्पन्नः, अतः स कर्त्तेति निगद्यते। मनोमयकोशः इच्छाशक्तिसम्पन्नः, अतः विवेकसाधकत्वेन स करणमित्युच्यते। प्राणमयकोशश्च गमनादिक्रियासम्पन्नः, अतः स कार्यमित्युच्यते। ज्ञानेन्द्रियसहितः बुद्धिरूपः कर्ता मनोज्ञानेन्द्रियरूपकरणसाहाय्येन प्राणादिपञ्चकद्वारा कर्मेन्द्रियपञ्चकद्वारा च गमनादिकार्यं कारयति। तत्तत्कार्यसम्पादनक्षमतानुसारमेव एते कर्तृकरण कार्येति संज्ञां लभन्ते। एतत् त्रयं मिलित्वा सूक्ष्मशरीरमिति व्यवह्रियते ॥ १७ ॥

विमला—लिंगशरीर का निरूपण करते हैं—सूक्ष्मशरीराणीति। सूक्ष्मशरीर (लिङ्गशरीर) के सत्रह अवयव होते हैं। सूक्ष्मशरीर को ही लिङ्गशरीर कहते हैं। जिनके द्वारा प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का अस्तित्व बोधन किया जाता है उन्हें लिङ्ग कहते हैं। वे लिङ्ग शरीर में स्थित रहते हैं इस कारण अथवा धर्माधर्म के द्वारा शरीरस्थिति के साधन होने के कारण उन्हें लिंगशरीर कहते हैं। ये सत्रह अवयव ही लिङ्गशरीर का स्वरूप है। उन अवयवों को बताते हैं–अवयवास्त्विति। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन ये दो, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच वायु ये सब मिलकर सत्रह अवयव हैं। उनमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द से कहे जाते हैं। ज्ञान की साधन ये इन्द्रियाँ हैं इसलिये इन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। इनका लक्षण क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका ग्राहक होना ही है। सांख्यदर्शनकार इनकी उत्पत्ति (आविर्भाव) अहंकार से बताते हैं, इसलिये वे इन्हें आहंकारिक कहते हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिये वेदान्ती लोग इन्द्रियों को भौतिक बता रहे हैं—एतानीति। अपने कारण (अज्ञान) के त्रिगुण से उत्पन्न त्रिगुणात्मक भूतों के सत्त्वगुणात्मक अंशों से अर्थात् सत्त्वगुण की अधिकतावाले अंशों से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ पैदा हुई हैं। तात्पर्य यह है कि आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्त्विक अंश से त्वगिन्द्रिय, तेज के सात्त्विक अंश से चक्षु, जल के सात्त्विक अंश से जिह्वा और पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। बुद्धि का लक्षण बताते हैं—बुद्धिर्नामेति। "मैं ब्रह्म ही हूँ" इस निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्ति को बुद्धि कहते हैं। मन का लक्षण बताते हैं—

मनो नामति। यह नील है, यह पीत है—इत्यादिविषयविवेचन को संकल्प कहते हैं। इसी के विपर्यय (विपरीत) को विकल्प कहते हैं। संकल्प और विकल्प में यही भेद है। एवं च मैं चिद्रूप हूँ या देह (शरीर) रूप हूँ—इस संशयात्मक अन्तःकरणवृत्ति को ही मन कहते हैं। शंका—अन्तःकरणचतुष्टय (चार अन्तःकरण) की सर्वत्र प्रसिद्धि है, तब यहाँ दो ही अन्तःकरण कैसे बताये जा रहे हैं? समाधान—अनयोरेवेति। अनुसन्धान करने वाली अन्तःकरणवृत्ति को चित्त कहते हैं और अभिमान करनेवाली अन्तःकरणवृत्ति को अहंकार कहते हैं। इसलिये चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव कर लेते हैं, क्योंकि दोनों का विषय-परिच्छित्ति (विषय का निश्चय) करने का काम एक-सा (समान) है। 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार विषय-परिच्छेद (निश्चय, निर्णय) करने की शक्ति दोनों (बुद्धि-चित्त) में समान रूप से रहती है। अतः चित्त का बुद्धि में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं। उसी प्रकार अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि विषय-विवेचनरूप संकल्प करने की शक्ति दोनों (अहकार-मन) में एक-सी होती है। एवं च स्मरणात्मक चित्त और गर्वात्मक अहंकार का बुद्धि तथा मन में अन्तर्भाव कर लिया है। अन्तः-करण (आभ्यन्तर साधन) की दृष्टि से चारों एक ही हैं, तथापि जैसे एक ही आदमी को उसके कार्य भेद के कारण पाचक, पाठक कहते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न शब्दों से व्यवहार करते हैं, उसी तरह एक ही अन्तःकरण को उसके निश्चय, संशय, स्मरण, अहंकाररूप भिन्न-भिन्न विषयों के कारण बुद्धि, मन, चित्त, अहकार इन चार नामों से पुकारते हैं। बुद्धि का अपना विषय अपूर्व (नवीन) होता है तथा चित्त का अपना विषय पूर्वानुभूत (नवीन नहीं) रहता है। मन का अपना विषय बाह्य तथा आभ्यन्तर (बाहरी-भीतरी जिसके साथ वह संबध करे) सभी कुछ होता है किन्तु अहंकार का विषय अनात्मोपरक्त आत्मा ही अर्थात् जड़ विषयों में आसक्त आत्मा ही रहता है। इस प्रकार इनका अपना-अपना विषय भिन्न रहने पर भी इनके स्वरूप में भेद न रहने से दोनों का अन्तर्भाव करना उचित ही प्रतीत होता है। स्वरूप में भेद न रहने पर भी विषय में भेद होने के कारण कहीं-कहीं चित्त और अहंकार का बुद्धि और मन से पृथक् निर्देश भी कर दिया जाता है।

अब इन चारों अन्तःकरणों का भौतिकत्व बताते हैं—एते पुनरिति। पूर्वोक्त ज्ञानेन्द्रियों के समान ही ये चारों अन्तःकरण, आकाशादिभूतों के सम्मिलित (समुचित) सात्विकांशों से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार तथा ज्ञानेन्द्रियाँ ये सब प्रकाशात्मक (प्रकाश स्वरूप) हैं और सत्त्वगुण का धर्म भी प्रकाश है। कारण के गुणों का (धर्म का) कार्य में आना स्वाभाविक है। अतः ये सब महाभूतों के सात्त्विक अंशों से पैदा होते है, यह निश्चित होता है। लिङ्गशरीर के उक्त अवयवों द्वारा सिद्ध हुए अवान्तर भेद (बुद्धि की विज्ञानमयकोशता) को बताते हैं—इयं बुद्धिरिति। यहाँ पर 'बुद्धि' का नामतः विशेषरूप से उल्लेख करने के कारण 'मन' को भी साथ में नहीं समझना चाहिये। केवल बुद्धि ही यहाँ अभिप्रेत है। बुद्धि को विज्ञानमय इसलिये समझा जाता है कि वह सत्त्वगुण का कार्य (प्रकाश) है और ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से उस प्रकाश में अधिकता रहती है। उसी तरह वह (बुद्धि) आत्मा की आच्छादक (आवरक) होने से कोश के समान भी है। एवं-च ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को ही विज्ञानमयकोश कहते हैं। इस विज्ञानमयकोश से आवृत (आच्छादित) चैतन्य ही कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखीपन का अभिमान करता है, इस लिये वही स्वर्गादिलोकान्तरों में जाता है। इसी चैतन्य को लोकव्यवहार में 'जीव' नाम से कहा जाता है। अर्थात् विशुद्ध बुद्धि (प्रकाशमय बुद्धि) में प्रतिबिम्बित चिदात्मा (चैतन्य) को ही जीव (आत्मा) कहते हैं। बुद्धि पर आरोपित चैतन्य वस्तुतः अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, आनन्द, अपरिच्छिन्न (व्यापक) होता हुआ भी तपे हुए लोहे के गोले की तरह (अयो दहति की तरह) भोक्ता, कर्ता, दुःखी, परिछिन्न, सक्रियपने का अभिमान करने लगता है। इसी लिए उसी को स्वर्गादि लोक-लोकान्तर में जाना पड़ता है और उसे लोग 'जीव' नाम से पुकारते हैं। 'विज्ञानम्' श्रुति कहती है कि चैतन्यस्वरूप आत्मा में कर्तृत्व वस्तुतः नहीं है किन्तु आभिमानिक है। श्रुति ने 'ध्यायतीव लेलायतीव' कहकर व्यवहार में आभासता बतायी है। उसी तरह न्याय से (ब्र० सू० से) भी उसकी कर्तृता-अकर्तृता, व्यावहारिक और पारमार्थिक रूप में क्रमशः स्पष्ट होती है। अब पहले की तरह ही मन से सम्बद्ध मनोमयकोश रूप अवान्तर भेद को बताते हैं—मनस्त्विति। सत्त्वगुणरूप अंश से उत्पन्न

होने के कारण सत्त्वगुण की प्रधानता से सम्पन्न तथा चक्षु, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन को 'मनोमयकोश' कहते हैं। यह मन सत्त्वगुण का कार्य रहने पर भी संकल्प-विकल्पात्मक होने से रजोविकार इच्छारूप है तथा बुद्धि की अपेक्षा इसमें अधिक जडता होने से यह (श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के साथ रहता हुआ भी) मनोमय कहलाता है और कोश की तरह आत्मा का आच्छादक होने से कोश कहलाता है। अर्थात् सत्त्वगुण की प्रधानता से पूर्ण तथा ज्ञानेन्द्रियों से संसृष्ट मन को ही 'मनोमयकोश' कहते हैं। कर्मेन्द्रियों को बताते हैं—कर्मेन्द्रियाणीति। कर्म के साधनभूत इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—ये नाम उन कर्मेन्द्रियों के हैं। उनमें से प्रत्येक का लक्षण यथाक्रम—वचन, आदान, गमन, विसर्ग, आनन्द इन विषयों का साधन बनना ही है। इन कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति में साधन अर्थात् उनके उत्पादक कौन हैं? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ कहते हैं—एतान्नीति। आकाशादि पंचभूतों के रजोगुण से क्रमशः पृथक्-पृथक् रूप में ये वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाशादि भूतों में सत्त्वादि तीनों गुणों के रहने पर भी रजोगुण की अधिकता के कारण उसके कार्यरूप वाक् आदि इन्द्रियों में भी रजोगुण की अधिकता पायी जाती है। उसी को स्पष्ट करते हैं—आकाश के रजोगुण से वाक्, वायु के रजोगुण से पाणि (कर-हस्त), अग्नि के रजोगुण से पाद (पैर-चरण), जल के रजोगुण से पायु (मल विसर्जनेन्द्रिय—गुदा), पृथ्वी के रजोगुण से गुह्येन्द्रिय (आनन्द का साधनभूत इन्द्रिय—उपस्थ, योनि) की उत्पत्ति होती है। इस रीति से इन्द्रियों का भौतिकत्व सिद्ध होता है। अब पाँच वायुओं का विभाग बताते हैं—वायव इति। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँच नामों के पाँच वायु हैं। उनके नामों के अनुसार उनमें से प्राण का लक्षण बताते हैं—प्राणो नामेति। प्राग्गमन का अर्थ है आगे की ओर निकलना। 'प्राणो हृदये' इस श्रुति (तै० ब्रा० ३।१०।८।५) के अनुसार 'प्राण' का स्थान यद्यपि हृदय है, तथापि नाक के अग्रभाग (अगले हिस्से) में उसकी उपलब्धि प्रत्यक्ष होती है, इसलिए उसे (प्राण को) नासाग्रस्थानवर्ती कहा गया है। अपान

का लक्षण कहते हैं—अपानो नामेति। मल का अपनयन करता हुआ नाभि के नीचे से चलने वाले वायु को 'अपान' कहते हैं। इसका रहने का स्थान पायु (गुदा, उपस्थ) है, 'आदि' शब्द से उपस्थ का भी ग्रहण इसलिये किया जाता है कि वह मूत्र, रेत का भी विसर्जन करता है। एव च नाभि के अधोभाग से चलने वाला तथा पायु आदि स्थान में रहने वाले वायु को 'अपान' कहते हैं। 'व्यान' का लक्षण बताते हैं—व्यानो नामेति। शरीर मे चारों ओर (सर्वत्र) गमन (घूमने) करने वाला तथा प्राण, एव अपान वायुओं के नियमन (नियन्त्रण) कर्ता और शरीर रूपी अरणी में अग्नि का उत्पादक होने से यह 'व्यान' नाम का वायु सम्पूर्ण शरीर में सञ्चार करता रहता है। 'उदान' वायु का लक्षण करते हैं—उदानो नामेति। ऊपर की ओर उत्क्रमण करने वाला तथा कण्ठस्थान में रहनेवाला वायु—उदानवायु के नाम से कहा जाता है। समानवायु का लक्षण करते हैं—समानो नामेति। समता को प्राप्त कराने के कारण उसे 'समान' कहते हैं। अर्थात् शरीर के भीतर तत्तत् स्थानों में अन्नरस को समानरूप से पहुँचाता है, इस लिये इस वायु को 'समानवायु' कहा करते हैं। प्राणादि पाँचों वायु, वायुरूप से एक रहने पर भी उनके कार्यभेद के कारण उनका भी भेद समझना चाहिए। अपने मत की यथार्थता बताने के लिये मतान्तर का प्रतिपादन करते हैं—केचित्त्विति। कपिल महामुनि के मत का अनुसरण करने वाले (सांख्यदार्शनिक) क्रियाभेद के कारण उक्त पाँचों के अतिरिक्त और भी पाँच वायुओं का होना बताते हैं। उनके नाम बताते हैं—नाग इत्यादि। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये सांख्योक्त पाँच वायुओं के नाम हैं। परन्तु वेदान्तियों ने इन पाँचों का स्वप्रतिपादित प्राणादि पाँच वायुओं मे ही अन्तर्भाव माना है। जैसे—नागवायु का काम उद्गिरण करना है। उद्गिरण का अर्थ छर्दि है। यह ऊर्ध्वमुख वायु है। उदान भी ऊर्ध्वमुख वायु है। अतः उदानवायु से ही उद्गिरण कार्य के सम्पन्न होने के कारण उद्गिरणकर्ता नागवायु का उदानवायु में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। उदान वायु से नागवायु पृथक् नहीं है। कूर्मवायु उन्मीलन क्रिया को करता है। उन्मीलन क्रिया एक

प्रकार की अङ्गचेष्टा ही है और वह अङ्गचेष्टा व्यानवायु के कारण होती है। अतः उन्मीलन क्रिया करनेवाले कूर्मवायु का व्यानवायु में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए। समान वायु खाये-पीये वस्तुओं का परिपाक कर उन्हें रसादि भाव को प्राप्त कराकर सम्पूर्ण शरीर में उन्हें जहाँ तहाँ पहुँचाता है। कृकल वायु क्षुत् क्रिया को करता है। किन्तु क्षुत् (क्षुधा, भूख) की उत्पत्ति तभी होगी जब अशित (भक्षित) पीत वस्तुओं का परिपाक होकर वे रस बनें और उस रस का शरीर में समान रूप से जहाँ तहाँ प्रवेश हो पाये। क्षुत् क्रिया करने वाले कृकलवायु का समान वायु में ही अन्तर्भाव हो जाता है। देवदत्त वायु की जृम्भण क्रिया है। जृम्भ (जमाई) निद्रा, आलस आदि के कारण होता है। निद्रा, आलस आदि वातुल पदार्थों के भक्षण से हुआ करते हैं, अन्न का स्वीकार करना अपानवायु का कार्य होता है। इसलिये परम्परया जृम्भण के हेतुभूत अपानवायु में ही जृम्भण क्रिया करने वाले देवदत्त–वायु का अन्तर्भाव हो जाता है। अन्तर्मुख होकर शरीर के भीतर प्रविष्ट होने वाले अपानवायु के अन्न स्वीकृति किये जाने के संबन्ध में ऐतरेय में बताया गया है। शरीर में यथाक्रम रस, लोहित, मांस आदि के रूप में अन्न का परिणाम होने पर ही शरीर की पुष्टि हो पाती है अतः रसादि को समान रूप से करने वाले समान-वायु में ही धनञ्जय-वायु का अन्तर्भाव कर लिया गया है। धनञ्जय-वायु का काम शरीर को पुष्ट करना है। यह मृतव्यक्ति का भी त्याग नहीं करता यह सर्वव्यापक है। अतः उद्गारादि क्रियाओं के कारण ये प्राणादि वायु ही अन्य अवस्थाओं को प्राप्त कर नागादि संज्ञाओं से पुकारे जाते हैं। इस रीति से जब उपपत्ति लग जाती है तब तत्त्वान्तर की कल्पना करना उचित नहीं है, व्यर्थ अप्रामाणिक गौरव ही है। प्राणादिवायुओं की उत्पत्ति में कारण बताते हैं—एतत्प्राणादीति। रजोगुण-प्रधान अपञ्चीकृत (सूक्ष्म) पंचमहाभूतों से प्राणादिवायुओं की उत्पत्ति होती है। इन प्राणादिवायुओं में प्राण की प्रचुरता होने से इन्हें प्राणमय कहा गया है, आत्मा के आच्छादक होने से इन्हें कोश कहा गया है। एवञ्च कर्मेन्द्रियों के सहित इन पंच प्राणों को ही प्राणमयकोश कहते हैं। ये प्राणादिवायु क्रियारूप होने से इन्हें रजोगुण का कार्य समझा जाता है। इन

विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय नाम से उक्त तीन कोशों में से विज्ञानमयकोश ज्ञान शक्ति से सम्पन्न है, इस लिये उसे कर्ता कहते है। मनोमयकोश इच्छा शक्ति से सम्पन्न है, इस लिये विवेक का साधन होने से उसे करण कहते हैं, प्राणमयकोश गमनादिक्रिया से सम्पन्न है, इसलिये उसे कार्य कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के सहित यह बुद्धि (कर्ता), मन और ज्ञानेन्द्रियों (करण) की सहायता से पंचप्राण तथा पंचकर्मेन्द्रियों के द्वारा गमन आदि कार्यों को कराती रहती है। तत्तत्कार्यों के सम्पादन करने की योग्यता के अनुसार ही इन्हें (कोशोंको) कर्ता, करण, कार्य ये नाम प्राप्त हुए हैं। सम्मिलित हुए इन तीन कोशों को ही सूक्ष्मशरीर के नाम से कहा जाता है ॥ १७ ॥

व्युत्पत्ति—लिंगशरीराणि—लिंगशरीर का ही दूसरा नाम 'सूक्ष्म-शरीर' है। यह सत्रह अवयवों का है। किन्तु सांख्यदर्शन में (सां० का० ४०) उसे अठारह अवयवों का बताया है।

मिलितेभ्यः—सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों का मन और बुद्धि की सहायता से ग्रहण किया करती हैं। इसीलिये ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति पञ्चभूतों के सम्मिलित अंशों से बताई गई है।

प्रकाशात्मकत्वात्—सत्त्वगुण का काम प्रकाश करना है अर्थात् ज्ञान करना है। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशक (ज्ञान कराने वाली) होती हैं। इसी कारण ज्ञानेन्द्रियों को सत्त्वगुणांश का कार्य माना गया है।

सूक्ष्मशरीर—विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश और प्राणमयकोश इन तीन कोशों से युक्त होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को विज्ञानमयकोश कहते हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन को मनोमयकोश कहते हैं।

कर्तृत्वादि—कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से रहित आत्मा जब विज्ञानमयकोश का अभिमान करने लगता है तब उसे ही कर्ता, भोक्ता, दुःखी, इस लोक में तथा परलोक में गमन करने वाला जीव कहते हैं।

प्राणमयकोश—पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और पाँचों प्राणवायु मिलकर प्राणमय-कोश का निर्माण होता है।

कर्मेन्द्रियाणि—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन पाँचों के क्रम से ये विषय होते हैं—वचन, विषयग्रहण, (किसी वस्तु को लेना-देना), चलना-फिरना, विसर्ग (मलोत्सर्जन), आनन्द।

रजोंऽशेभ्यः—रजोगुण उत्तेजक (उपष्टंभक) और चञ्चल होता है। यह रजोगुण कार्य करने की प्रेरणा देता है अर्थात् कार्य कराता है। ये कर्मेन्द्रियाँ कार्य (काम) करती रहती हैं। इन अलग-अलग कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूतों के असम्मिलित (पृथक्-पृथक्) रजोगुण से क्रमशः होती है।

अन्य पाँच वायु—सांख्यदर्शन के अनुसार नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये पाँच वायु हैं। किन्तु वेदान्तियों ने इन पाँचों का अन्तर्भाव अपने समस्त प्राणादि पाँच वायुओं में ही मान लिया है। उदान में नाग का, व्यान में कूर्म का, समान में कृकल और धनंजय का, और अपान में देवदत्त का अन्तर्भाव किया गया है।

रजोंऽशकार्यत्वम्—सांख्य ने (सां० का० १३) रजोगुण को प्रेरक और चंचल बताया है। यह प्राणमयकोश क्रियात्मक है। इसलिये इसे (पचप्राणों के सहित कर्मेन्द्रिय रूप प्राणमयकोश को) सूक्ष्मभूतों के सम्मिलित रजोगुण का कार्य माना है। क्योंकि रजोगुण ही क्रियाप्रवर्तक और चंचल रहता है।

योग्यत्वात्—मनुष्य की प्रवृत्ति निश्चय से होती है। निश्चय, विषय (वस्तु) के ज्ञान से होता है। वस्तु का ज्ञान बुद्धि से होता है। इस कारण विज्ञानमयकोश को ज्ञानशक्ति से सम्पन्न एवं कर्ता कहा गया है। मन का कार्य है संकल्प-विकल्प करना तथा इच्छा करना। वह मन ही किसी कार्य के करने में करण (साधन) बनता है। इसके सहयोग से ही समस्त इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करती हैं। इस कारण मनोमयकोश का इच्छाशक्ति से सम्पन्न एवं करण कहा गया है। किसी भी कार्य करने की क्षमता प्राणों से ही प्राप्त होती है। इसलिये प्राणमयकोश को क्रियाशक्तिमान् कहा गया है। वाक् और मन के संबध से उत्पन्न होने के कारण प्राणों को कायरूप कहा जाता है। यह कथन बृहदारण्यक उपनिषद् (१।७।१२) से प्रमाणित होता है ॥१७॥

लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर के एकत्व, अनेकत्व की व्यवस्था अज्ञान के समान ही समष्टि, व्यष्टिरूप है, यह बता रहे हैं—

(सूक्ष्मप्रपञ्च-निरूपणम्)

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते। एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।१८।

सारबोधिनी—श्रुतिषु अज्ञानवदेव लिंगशरीरस्यापि एकत्व-बहुत्वश्रवणात् तदेकत्वाऽनेकत्वयोर्व्यवस्थां दर्शयति—अत्राप्यखिलसूक्ष्म इति। यथा अज्ञानस्य समष्टित्वेन व्यष्टित्वेन च व्यवहारस्तथैव चराचरप्राणिमात्रस्य यावन्ति अनन्तानि सूक्ष्मशरीराणि (लिंगशरीराणि) सन्ति, तेषां सर्वेषां सूक्ष्मशरीराणां सूत्रात्मना हिरण्यगर्भाख्येन प्राणेन स्वीयैकबुद्ध्या विषयीकृतत्वात् वनवज्जलाशयवद्वा समष्टित्वम्। तत्र दृष्टान्तमाह—वनवदित्यादि। अस्यैव

सूक्ष्मशरीरस्य व्यष्टित्व प्रदर्शयति—अनेकेति। अनेकेषां जीवानां प्रत्येकं स्वस्वसूक्ष्मशरीरस्य स्वस्वबुद्धिविषयतया वृक्षवत् नद्यादिवद्वा व्यष्टित्वम्। एतत्सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूपेण उपाधिना उपहितं चैतन्यं मालायां सूत्रमिव सर्वत्र अनुस्यूतत्वात् पूर्वोक्तज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमत्कोशत्रयोपाधिना उपहितत्वाच्च सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः, प्राणश्चोच्यते। अर्थात् निमित्तत्रयेणायं त्रिविधो व्यपदेशः, सर्वत्र अनस्यूतत्वात् सूत्रात्मा। ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणोपहितत्वात् हिरण्यगर्भः। क्रियाशक्तिमदधिदैवतप्राणरूपत्वात् प्राणः। सूत्रात्मकस्य हिरण्यगर्भस्यास्य एषा (सूक्ष्मशरीर) समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादिकोशत्रयम् एवं विराड्रूपेण अनुभूतस्थूलप्रपञ्चविषयकवासनामयत्वात् स्वप्नः। यतः सूक्ष्मत्वं स्वप्नत्वं च, अतएव स्थूलप्रपञ्चस्य लयस्थानमप्युच्यते। विज्ञानमयादिसमष्ट्युपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य हिरण्यगर्भत्वम् प्रतिपाद्य, इदानीं विज्ञानमयादिव्यष्ट्युपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तैजसत्वं निरूपयति—एतद्व्यष्टीति। एतत्सूक्ष्मशरीरव्यष्ट्युपहितं चैतन्यं, तेजोमयान्तःकरणोपाधिना उपहितत्वात् तैजस इत्युच्यते। अस्य तैजसस्यापि इयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरम्, विज्ञानमयादिकोशत्रयम्, एवं विश्वाख्येन चैतन्येन अनुभूतस्थूलशरीरविषयकवासनामयत्वात् स्वप्नः। यतः सूक्ष्मत्वं स्वप्नत्वं च अत एव स्थूलप्रपञ्चस्य लयस्थानमप्युच्यते। एवञ्च—विज्ञानमयादिकोशत्रयं तैजसस्यापि सूक्ष्मशरीरमिति वेदितव्यम्। यथापूर्वं प्राज्ञेश्वरौ अज्ञानवृत्तिभिः सुषुप्त्यवस्थायाम् आनन्दमनुभवतः, तथा हिरण्यगर्भतैजसौ अपि स्वप्नावस्थायां सूक्ष्माभिः मनोवृत्तिभिः वासनामयान् सूक्ष्मशब्दादिविषयान् अनुभवतः। अर्थात् स्वप्नावस्थायां निद्रादिदोषदूषितस्य अदृष्टादिसमुद्बोधित-संस्कारविशेषसचिवस्य अन्तःकरणस्य याः संस्कारानुरूपाः वृत्तयः ताहगन्तःकरण-संसृष्टचैतन्यस्थाऽविद्याशक्तिविजृम्भितविषयाकाराः ताभिः सूक्ष्मविषयान् जाग्रद्वासनामयान् ईषत् अस्फुटान् अनुभवतः। अयं स्वप्नः न स्मृतिः अपरोक्षावभासितत्वात्। नापि प्रत्यक्षप्रमा सम्प्रयोगाद्यभावात्। न च सुषुप्तिः स्पष्टं विषयानुभवात्। नापि जागरितं तदुचितदेशकालनिमित्तानामसम्भवात्। तस्मात् मायामय एव स्वप्नः। सूक्ष्मविषयानुभवे श्रुतिमुदाहरति—प्रविविक्तेति। "अयं तैजसः सूक्ष्मविषयाणां भोक्ता अस्ति।"—(माण्डू० ४)।

अत्रापि विज्ञानमयादिकोषत्रयसमष्टिव्यष्ट्योः तदुपहितसूत्रात्म–तैजसाख्यचैतन्योश्च वन-वृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च, एवं जल-जलाशय-पतित-प्रतिबिम्बवच्च अभेदः। अनेन प्रकारेण अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः सकाशात् सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः संजायते ॥ १८ ॥

विमला—यहाँ पर भी समस्त सूक्ष्मशरीरों को शरीर की दृष्टि से जब एक समझते हैं तब उनकी एकत्व विवक्षा प्रकट करते समय वे सब एक बुद्धि के विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि के रूप में कहे जाते हैं और उन्हीं को जब अलग-अलग समझते हैं तब वे अनेक जीवों के स्व-स्व बुद्धि के विषय होने के कारण वृक्ष अथवा जल (वापी, कूप, तड़ाग आदि) के समान व्यष्टि के रूप में कहे जाते हैं। इन सूक्ष्मशरीरों की समष्टि से उपहित (समष्टि रूप उपाधि से युक्त) जो चैतन्य है, उसे सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या प्राण कहते हैं। उस एक ही चैतन्य को इन तीन नामों से पुकारा जाता है। उसे सूत्रात्मा इस लिये कहते हैं कि वह माला की मणियों में सूत्र के समान समस्त प्राणियों के सूक्ष्मशरीरों में अनुस्यूत रहता है, और उसे हिरण्यगर्भ या प्राण इसलिए कहते हैं कि वह ज्ञानशक्ति से सम्पन्न (विज्ञानमय-कोश), इच्छाशक्ति से सम्पन्न (मनोमयकोश) तथा क्रियाशक्ति से सम्पन्न (प्राणमयकोश) है। इस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ या प्राणरूप चैतन्य को (इस लिङ्ग शरीर की समष्टि को) स्थूलप्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सूक्ष्म-शरीर तथा विज्ञानमयादि कोशत्रय कहते हैं, जाग्रत् अवस्था की वासनाओं से युक्त होने के कारण किन्तु जागरण के विषयों से शून्य होने के कारण इसे स्वप्न कहते हैं, और इसे ही स्थूलप्रपंच का लयस्थान भी कहते हैं। सूक्ष्म-शरीर की व्यष्टि (पृथक्-पृथक् सूक्ष्मशरीरों) से उपहित चैतन्य को 'तैजस' नाम से पुकारते हैं। क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण से युक्त है। इसकी भी इस व्यष्टि को (लिङ्ग शरीर की व्यष्टि) स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर तथा विज्ञानमयादिकोशत्रय कहते हैं। जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से युक्त होने के कारण किन्तु जाग्रत् अवस्था के विषयोपभोगों से रहित होने के कारण इस व्यष्टि को स्वप्न कहते हैं। इसे स्वप्न कहने के कारण ही

स्थूलशरीर का लयस्थान भी कहते हैं। ये दोनों सूत्रात्मा और तैजस, स्वप्नावस्था में अपनी सूक्ष्म मनोवृत्तियों द्वारा वासनामय शब्दादिविषयों का उसी प्रकार अनुभव करते हैं, जिस प्रकार ईश्वर और प्राज्ञ सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानवृत्तियों द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। 'तैजस चैतन्य सूक्ष्म-विषयों का भोग करता है'—(माण्डू० ३) इत्यादि श्रुति से भी यही बात बताई गयी है। यहाँ भी विज्ञानमयादिकोशत्रयसमष्टि का विज्ञानमयादिकोश-त्रयव्यष्टि से तथा कोशत्रय समष्टि से उपहित सूत्रात्मा चैतन्य का, कोशत्रय-व्यष्टि से उपहित तैजस चैतन्य से उसी तरह अभेद (एकता) है, जिस तरह वन-वृक्ष का या वनावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्न आकाश का या जल-जलाशय का या उनमें प्रतिबिम्बित आकाश का अभेद (अभिन्नता, एकता) होता है। अभिप्राय यह है कि समष्टि और व्यष्टि तथा सूत्रात्मा और तैजस यह भेद केवल नाम का है, वस्तुत: समष्टि-व्यष्टि एक ही है तथा सूत्रात्मा-तैजस एक ही है, अलग-अलग नहीं है। इस रीति से अपंचीकृत महाभूतों से सूक्ष्म-शरीर (लिङ्ग-शरीर) की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया ॥ १८ ॥

व्युत्पत्ति:—हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्राण—ज्ञानशक्ति की प्रधानता की दृष्टि से उस चैतन्य का 'हिरण्यगर्भ' शब्द से नामकरण किया गया है। क्रिया-शक्ति की प्रधानता की दृष्टि से उसी चैतन्य का 'प्राण' शब्द से नामकरण किया गया है। वह चैतन्य सर्वत्र अनुस्यूत होने से उसका 'सूत्रात्मा' शब्द से नामकरण किया गया है।

तेजोमयान्त:करणोपहितत्वात्—आकाशादि पंचभूतों के सम्मिलित सत्त्वगुण से अन्त:करण की उत्पत्ति होती है। इसलिए उसमें प्रकाशत्व धर्म रहता है। अत: वह प्रकाशक है तथा ज्ञान का साधक है। इसी लिए उसे तेजोमय (वासनामय) कहते हैं।

तैजस—एक-एक के सूक्ष्म-शरीर (सूक्ष्म-शरीर व्यष्टि) से युक्त प्रत्येक चैतन्य को तैजस कहा गया है, क्योंकि वह तेजोमय अन्त:करण से युक्त रहता है।

तदानीम्—स्वप्नावस्था में 'सूत्रात्मा' की स्वप्नावस्था प्रलय के पश्चात् और स्थूल जगत् की सृष्टि के पूर्व रहती है तथा 'तैजस' की स्वप्नावस्था सुषुप्ति और जाग्रत् के बीच हुआ करती है ॥ १८ ॥

स्थूल शरीर की उत्पत्ति का निरूपण किया जा रहा है—

(पञ्चीकरणप्रकारः)

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि । पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपंचस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान्पंचभागान्प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम् । तदुक्तम्—

"द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते" इति ॥

अस्याप्रामाण्यं नाशंकनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पंचीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात् । पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च "वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद" इतिन्यायेनाकाशादिव्यपदेशः संभवति । तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥ १९ ॥

सारबोधिनी—अपञ्चीकृतमहाभूतेभ्यः सूक्ष्मप्रपञ्चोत्पत्तिः, पञ्चीकृतमहाभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिर्भवतीति पूर्वमुक्तमासीत् । तदनुसारेण सूक्ष्मप्रपञ्चोत्पत्तेर्निरूपणमेतावता कृतम् । इदानीं स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तेर्निरूपणं कर्तव्यमस्ति, तदर्थं पञ्चीकरणप्रकारज्ञानस्य अपेक्षणीयत्वेन अधुना तत्प्रकारो निरूप्यते-स्थूलशरीरस्य उत्पत्तिं वर्णयितुमुपक्रमते—'स्थूलेति ।' 'तु' शब्दः पूर्वस्माद् वैषम्यं सूचयति-पञ्चीकृतानीति । अपञ्चीकृतसूक्ष्मभूतानामपेक्षया

स्थूलभूतानि पञ्चीकृतानि भवन्ति। पंचीकरणं वर्णयति—पञ्चीकरणन्त्विति। सृष्टिसमये पूर्वसृष्टिस्थितानां समस्तप्राणिनाम् अदृष्टवशात् ईश्वरप्रेरणया आकाशवायुतेजोऽबन्नानि, अविद्यासहायभूतात् परमात्मनः सकाशात् अनुक्रमजातानि अपञ्चीकृतानि सूक्ष्माणि व्यवहारसम्पादने असमर्थानि इति कृत्वा तदीयस्थौल्यापेक्षायां व्यवहारकर्तृणाम्प्राणिनां धर्माधर्मापेक्षयैव तान्येव सूक्ष्म-भूतानि पञ्चीकृतानि भवन्ति।

पञ्चीकरणप्रकारः—आकाशादिपञ्चमहाभूतेषु एकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् चतुर्धा समं विभज्य प्रत्येकमहाभूतस्य पञ्च पञ्च भागाः कृताः (एकः अर्धभागः, चत्वारश्च अष्टमांशभागाः) ततः चत्वारः अष्टभांशभागाः—स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन अन्यमहाभूतानां चतुर्षु अर्द्धभागेषु एकैकं संयोजिताः। तथा च प्रत्येकस्य महाभूतस्य अन्येषां चतुर्णां महाभूतानामष्टमांशविशिष्टस्वकीयार्धांशतया पञ्चमहाभूतशिष्टत्वं सञ्जायते। (अयमेव विधिः 'द्विधाविधाय चैकैकं' इति पद्येन पञ्चदश्यां तथा 'पृथिव्यादीनि भूतानि' इत्यादि च वार्तिके प्रतिपादितः)। अस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिमाह—तदुक्तमिति।

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥'

—(पं० द० १।२७)

ननु व्योमादिपञ्चानां प्रत्येकं पञ्चात्मकत्वं स्वरूपाविनाशेऽपि कथं स्यादित्याशंक्य तत्प्रकारं प्रकटयति—द्विधेति।

अत्रापि सूक्ष्मशरीरसामग्र्याद्युत्पत्तौ इव मायावृत्यात्मकः ईश्वरसङ्कल्प एव निमित्तमनुवर्तते। एवं च सत्यसङ्कल्पः परमेश्वरः सङ्कल्पमात्रेणैव एकैकमाकाशादिकं भूतं द्विधा द्विप्रकारकं विधाय कृत्वा पुनः प्रथमं द्विधाकृतमाद्यभागं चतुर्धा विधाय स्वस्वशब्दाभिहिततत्तद्भूतभिन्नभूतसंबंधिद्वैधीकृतत्वप्रयुक्तावशिष्टद्वितीयभागैः सह योजनात् सम्मेलनात् पञ्चापि ते महाभूतपदार्थाः पंचाकाशाद्यर्धभागात् तदितराष्टमहाभागेभ्यश्च हेतोः आकाशाद्यभिधाः भवन्ति।

(पञ्चीकरणकोष्ठकम्)

(सूक्ष्मभूत)					(स्थूलभूत)
$\frac{1}{2}$ आकाश	$\frac{1}{8}$ वायु	$\frac{1}{8}$ तेज	$\frac{1}{8}$ जल	$\frac{1}{8}$ पृथ्वी	आकाश
$\frac{1}{2}$ वायु	$\frac{1}{8}$ आकाश	$\frac{1}{8}$ तेज	$\frac{1}{8}$ जल	$\frac{1}{8}$ पृथ्वी	वायु
$\frac{1}{2}$ तेज	$\frac{1}{8}$ आकाश	$\frac{1}{8}$ वायु	$\frac{1}{8}$ जल	$\frac{1}{8}$ पृथ्वी	तेज
$\frac{1}{2}$ जल	$\frac{1}{8}$ आकाश	$\frac{1}{8}$ वायु	$\frac{1}{8}$ तेज	$\frac{1}{8}$ पृथ्वी	जल
$\frac{1}{2}$ पृथ्वी	$\frac{1}{8}$ आकाश	$\frac{1}{8}$ वायु	$\frac{1}{8}$ तेज	$\frac{1}{8}$ जल	पृथ्वी

ननु छान्दोग्ये तेजोबन्नानां उत्तरोत्तरक्रमेण उत्पत्तिमभिधाय तत्त्रिवृत्करणात् (प्रत्येकार्धभागविशिष्टात् इतरतुरीयांशभागात्) सृष्टिः प्रतिपादिता, अत्र च पञ्चीकरणात् सृष्टिः प्रतिपाद्यते इति उभयोर्विरोध इति चेत्, न। त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणश्रुतेरपि उपलक्षणत्वात् (स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वात्), अर्थात् भूतत्रयसृष्टिश्रुतौ सृष्टिपरिपूर्त्यर्थं अश्रुतमपि भूतद्वयमाश्रित्य भूतपञ्चकाभिप्रायेण भूतत्रयसृष्टिप्रतिपादनात् अविरोधः। पञ्चीकृतानामाकाशादीनां पञ्चात्मकत्वाऽविशेषात् आकाशादिव्यपदेशो न स्यादित्याशंक्य परिहरति—'पञ्चानामिति'। पञ्चानां महाभूतानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि स्वस्वार्थभागानाम् आधिक्येन वर्त्तमानात् आकाशादिव्यवहारोपपत्तिः। अतएव पञ्चीकृताकाशे शब्दः, पञ्चीकृतवायौ शब्दस्पर्शौ, अग्नौ च शब्दस्पर्शरूपाणि, जले च शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्याञ्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः उत्तरोत्तरं स्वस्वकारणानुरूपं स्पष्टरूपेण अनुभूयन्ते ॥ १९ ॥

विमला—पहले बताया गया है कि स्थूल सृष्टि (प्रपञ्च) की उत्पत्ति अपञ्चीकृत (पञ्चीकरण रहित) महाभूतों से और स्थूल सृष्टि (प्रपञ्च) की उत्पत्ति पञ्चीकृत (पञ्चीकरण-विशिष्ट) महाभूतों से होती है। अब स्थूल सृष्टि (प्रपञ्च) का निरूपण करेंगे। स्थूल प्रपञ्च के समझने के

लिए पंचीकरण की पद्धति जानना नितान्त आवश्यक है, अतः उसे बता रहे हैं। **पंचीकरण की पद्धति**—आकाशादि सूक्ष्मपंचमहाभूतों के दो भाग अर्थात् दस भाग किये। उन दस भागों में से प्राथमिक पाँचों भागों के पुनः चार-चार भाग किये। इस रीति (एक अर्धांश तथा चार अष्टमांश) से सबके पाँच-पाच भाग हो जाते हैं। उन सब भागों में से अपने-अपने एक-एक अर्द्धांश भाग को छोड़कर एक-एक भाग (अष्टमांश) दूसरे-दूसरे चारों में मिला दिया। तब प्रत्येक महाभूत में आधा भाग अपना और अष्टमांश दूसरे-दूसरे महाभूतों का मिल जाने से आकाशादि प्रत्येक, पाँच-पाँच महाभूतों से युक्त होते हैं। जैसे पाँच आदमियों के पास एक-एक रुपया है; प्रत्येक ने अपने-अपने रुपये की दो-दो अठन्नियाँ कर लीं और एक-एक अठन्नी को पाँचों ने अपने-अपने जेब में रख लिया। हाथ रखी दूसरी अठन्नी की चार-चार दुअन्नियाँ कर लीं और उन चारों दुअन्नियों को प्रत्येक ने शेष चारों व्यक्तियों को दे दिया। अर्थात् पाँचों ने अपनी-अपनी अठन्नी जेब में सुरक्षित रखकर दुअन्नियों को चारों में बाँट दिया। इस प्रकार प्रत्येक के पास आठ-आठ आने और आ जाने से सबके पास एक-एक सम्पूर्ण रुपया हो गया। उसी प्रकार आकाशादि पंचमहाभूतों का अपना-अपना अर्धांश तथा शेष चार भूतों का अष्टमांश मिलाकर पंचीकृत महाभूत तैयार किये जाते हैं। इसी पञ्चीकरण पद्धति को पंचदशीकार तथा वार्तिककार ने पद्य के द्वारा बताया है—

"द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पंच पंच ते॥"

—(पंचदशी १।२७)

"पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः॥
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते सँवेशयेत् क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि॥
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमाविशेत्।
पञ्चीकरणमेतत्स्यात् इत्याहुस्तत्त्ववेदिनः॥

किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति।"—(छां० उ० ६।३।२,३) उस देवता ने विचार किया कि अब मैं जीवात्मा के रूप से इन तीनों (तेज, जल, अन्न) देवताओं में प्रवेश कर नाम और रूप (सम्पूर्ण प्रपंच) की अभिव्यक्ति करूँ। ऐसा विचार कर उस देवता ने तेज, जल, अन्न संज्ञक तीनों देवों में से प्रत्येक को त्रिवृत्-त्रिवृत् कर दिया। यही त्रिवृत्करण श्रुति है। इस प्रकार त्रिवृत्-के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बताई जा रही है और ग्रंथकार ने पंचीकरण के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बताई है—अतः परस्पर विरोध प्रतीत हो रहा है। इस विरोध के समाधानार्थ ग्रंथकार कहते हैं कि उपनिषद् का त्रिवृत्करण उक्त पंचीकरण का उपलक्षण (सूचक) है। अर्थात् अपना बोधन कराते हुए उक्त पंचीकरण को भी सूचित करता है। क्योंकि सृष्टि के निर्माणार्थ पंचमहाभूत आवश्यक हैं। अतः छान्दोग्य में अग्नि, जल और पृथ्वी का त्रिवृत्करण शेष दो महाभूत (आकाश, वायु) से युक्त पंच महाभूतों के पंचीकरण का उपलक्षक है। पाँचों महाभूतों में पाँचों महाभूतों का भाग समानरूप से प्रविष्ट रहने पर भी सबसे अधिक भाग जिस महाभूत का हो उसी के नाम से पुकारा जाता है। यह बात 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः'—(ब्र० सू० २।४।२२) इस न्याय से बताई गई है। अतः तत्तन्महाभूतों की अधिकता के आधार पर ही उन महाभूतों को आकाशादि नामों से व्यवहार करना सम्भव होता है। पंचीकरण होने के पश्चात् आकाश में शब्द अभिव्यक्त होता है, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस एवं पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उत्तरोत्तर अपने-अपने कारणों के अनुसार स्पष्ट अनुभव में आते हैं।१९।

व्युत्पत्तिः—

आकाशादिव्यपदेशः—आकाशादि पाँचों भूतों में से प्रत्येक में एक-एक अपने-अपने अंश के अतिरिक्त शेष चार भूतों के अंश भी सम्मिलित रहते हुए एक विशेषनाम से ही उन्हें इसलिए पुकारा जाता है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा

भवन्ति' प्रधान का नाम लेकर ही व्यवहार किया जाता है। इस नियम के अनुसार हम आकाश को आकाश, वायु को वायु कहते हैं। क्योंकि आधा आकाश में—आकाश का ओर वायु में वायु का है और आधे में शेष चार भूत मिले हैं। यही अन्य भूतों में भी समझना चाहिए ॥ १९ ॥

चतुर्दश भुवनों की उत्पत्ति का प्रकार बता रहे हैं—

(स्थूलप्रपंचोत्पत्तिः)

एतेभ्यः पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरिविद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि ॥२०॥

सारबोधिनी—एवं भूतारोपं (पंचमहाभूतपृथिव्याद्यारोपं) निरूप्य इह भौतिकारोपं (भूर्भुवःस्वराद्यारोपं) वर्णयति—एतेभ्य इति। एतावत्पर्यन्तं पृथिव्यादिपंचमहाभूतोत्पत्तिमुक्त्वा इदानीं तेभ्यः चतुर्दशभुवनादीनामुत्पत्तिप्रकारो निरूप्यते इत्यभिप्रायः। प्राणिनां कर्मज्ञानफलभोगस्थानविशेषा यथापाठक्रमम् उपरि-उपरि वर्तमानाः सप्त। भूमेः अधोऽधश्च पाठक्रमेण वर्तमाना अतलादयः सप्त—इत्येवं चतुर्दशलोकाः। एते चतुर्दशलोका एव स्वावरणस्वरूपा लोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथिवी तद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डम् इत्युच्यते। पंचमहाभूतेभ्यः समुत्पन्ने ब्रह्माण्डे चतुर्विधस्थूलशरीराणां तद्योग्यान्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणां नामानि—जरायुजं, अण्डजम

उद्भिज्ज, स्वेदजं चेति। यथोद्देशक्रमं शरीराणि निरूपयति—जरायुजा-नीत्यादिना ॥ २० ॥

विमला—पूर्वोक्त पंचीकृत महाभूतों से क्रमशः एक-एक के ऊपर स्थित भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् नाम के सात लोकों का निर्माण होता है। उसी तरह क्रमशः भूलोक (पृथ्वी) से क्रमशः एक-एक के नीचे स्थित अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल नाम के सात लोकों का निर्माण होता है। इन चतुर्दश (चौदह) लोकों (भुवनों) को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस ब्रह्माण्ड में वर्तमान चार प्रकार के स्थूलशरीर (१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) उद्भिज्ज और (४) स्वेदज प्राणी उत्पन्न होते हैं। जरायुज=गर्भाशय की थैली से उत्पन्न होने वाले जैसे—मनुष्य, पशु आदि। अण्डज=अण्डे से उत्पन्न होने वाले, जैसे—पक्षी, सर्प आदि। उद्भिज्ज=भूमि को विदीर्ण (फोड़ कर) उत्पन्न होने वाले, जैसे—तृण, वृक्ष आदि। स्वेदज=पसीने (मैले-गन्दगी) से उत्पन्न होने वाले, जैसे—जुएँ मशक, (मच्छर, डाँस) खटमल आदि ॥ २० ॥

व्युत्पत्ति—

ब्रह्माण्डस्य—चतुर्दश लोकों को चारों ओर से लोकालोक पर्वतों ने घेर लिया है, उन पर्वतों को पृथ्वी ने घेर लिया है, पृथ्वी को समुद्र ने घेर लिया है, इन सभी को मिलाकर एक शब्द में 'ब्रह्माण्ड' कहते हैं ॥ २० ॥

पूर्व की तरह यहाँ भी समष्टि-व्यष्टि भेद का निरूपण कर रहे हैं—

स्थूलप्रपञ्चनिरूपणम्

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीर-

मन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च । स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते । एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात् । अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते । तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपंचकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपंचकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशंकराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहंकारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्संकल्पनिश्चयाहंकार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो "जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञ" इत्यादिश्रुतेः । अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः । एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

सारबोधिनी—अत्रापि पूर्ववत् चतुर्विधस्थूलशरीरस्य एकत्वानेकत्वविवक्षायामेकानेकबुद्धिविषयतया वनवत् जलाशयवद् वा समष्टिर्व्यष्टिश्च । अर्थात् चतुर्विधशरीरसमुदायोऽपि शरीरमिति एकबुद्धिविषतया वनवत् समष्टित्वं, स एव तत्तच्छरीराणीत्यनेकबुद्धिविषयत्वात् वृक्षवत् व्यष्टित्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । भूरादिचतुर्दशभुवनान्तर्गतचतुर्विधस्थूलशरीरसमष्ट्युपहितं चैतन्यं सकलप्राणिषु 'अहम्' इत्यभिमानेन वर्तते, अतो वैश्वानर इत्युच्यते, स (वैश्वानरः) एव विविधं नानाप्रकारेण राजते (प्रकाशते) इति कृत्वा विराट् इति संज्ञामपि लभते । उपहितस्य व्यपदेशानुक्त्वा उपाधेरपि व्यपदेशानाह—अस्यैषेति ।

अज्ञानस्य एषा सकलब्रह्माण्डान्तर्गतं चतुर्विधस्थूलशरीरसमष्टिः स्थूलशरीरम्, तदेव मातृपितृभुक्तान्नोत्पन्नत्वेन आत्माच्छादकत्वेन च अन्नमयकोशः सुख-दुःखादिभोगाधारत्वेन च स्थूलशरीरम्, तत्तदिन्द्रियैः तत्तद्विषयोपलब्धेश्च जाग्रत् इत्युच्यते। चतुर्विधस्थूलशरीरसमष्ट्युपहितं चैतन्यं सप्रपंचमभिधाय अधुना तद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यमभिधत्ते—एतद्व्यष्टीति। एतेषां चतुर्विध-स्थूलशरीराणां या व्यष्टिः तत्तच्छरीरव्यक्तिस्तदुपहितं चैतन्यं सूक्ष्मशरीरा-भिमानम् अजहत् प्रत्येकस्थूलशरीरे 'अहम्' इत्येवमभिमानेन वर्तमानं विश्व इति व्यवह्रियते। अस्य अज्ञानस्यापि इयं व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविका-रत्वात् आत्माच्छादकत्वाच्च अन्नमयकोशः, इन्द्रियैर्विषयग्रहणात् जाग्रत् इत्युच्यते।

अस्यां जाग्रदवस्थायां एतौ वैश्वानर-विश्वौ दिग्वायुसूर्यवरुणाग्निभिः क्रमशो नियन्त्रितेन श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणेन्द्रियपंचकेन क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस- गन्धान्, तथा अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमात् नियन्त्रितेन वाक्-पाणिपादपायूपस्थेन्द्रियपंचकेन क्रमशः वचनादानगमनमलत्यागानन्दान्, एवं-मिन्द्रब्रह्मशंकरविष्णुभिः क्रमात् नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येन अन्त-रिन्द्रियचतुष्केण क्रमशः सङ्कल्प-निश्चय-गर्व-स्मरणाख्यान् सर्वान् स्थूलविषयान् अनुभवतः। तथा च माण्डूक्योपनिषदि "जाग्रदवस्थावान् बाह्यविषयाणां प्रकाशकश्च वैश्वानर एव स्थूलविषयान् उपभुक्ते।"—(माण्डू० उ० ३) इत्युक्तम्। अत्रापि उभयविधसमष्टि-व्यष्ट्योः तदुपहितवैश्वानरविश्वचैतन्य-योश्च वनवृक्षवत् तदवच्छिन्नाकाशवच्च, जलाशय-जलवत् तत्प्रतिबिम्बिताकाश-वच्च परस्परं न भेदः। अनेन प्रकारेण पंचीकृतमहाभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्ति-र्भवति ॥ २१ ॥

विमला—यहाँ पर भी चारों प्रकार के स्थूल शरीरों की एकत्व के रूप में विवक्षा करने पर वन या जलाशय के समान समष्टि और अनेकत्व (प्रत्येक व्यक्ति की एक एक बुद्धि) की विवक्षा करने पर वृक्ष या जल (वापी, कूप, तडाग) के समान व्यष्टि के रूप में व्यवहार किया जाता है। स्थूलशरीरों की इस समष्टि से उपहित चैतन्य को वैश्वानर और विविधरूप (मानव, दानव, पशुपक्षी पर्वत के, रूपों) में प्रकाशित होने से विराट भी कहते हैं। क्योंकि सभी में 'मैं इस अभिमान के द्वारा अनेक प्रकार से विराजमान हूँ।'

इस अज्ञान (माया, अविद्या) की (ब्रह्माण्डान्तर्गत चार प्रकार के स्थूल-शरीरों की समष्टि को वैश्वानर या विराट् का स्थूल शरीर कहते हैं। यह स्थूल शरीर माता-पिता के खाये हुए अन्न से पैदा होता है, इसलिये इसे अन्नमय कहते हैं तथा आत्मा का आवरक (आच्छादक) होने से इसे कोश कहते हैं। सुख-दुःख आदि के उपभोग का आधार होने से इसे स्थूल शरीर और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग लेते रहने के कारण जाग्रत् भी कहते हैं। अर्थात् इस स्थूल शरीर को समष्टि अन्नमयकोश और जाग्रत् कहते हैं। उसी प्रकार उक्त चतुर्विध स्थूलशरीरों की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व कहते हैं, क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर का अभिमान करता हुआ भी प्रत्येक स्थूल शरीर में, मैं, इस प्रकार से अभिमान करता हुआ प्रकाशित होता रहता है। इस अज्ञान (माया अविद्या) की व्यष्टि को भी स्थूल शरीर तथा अन्न का विकार रूप होने से तथा आत्मा का आच्छादक होने से कोश और इन्द्रियों के द्वारा विषयोपभोग करने के कारण जाग्रत् कहते हैं। अर्थात् स्थूल शरीर व्यष्टि को अन्नमय कोश और जाग्रत् कहते हैं। उस समय (जाग्रत् अवस्था में) ये विश्व और वैश्वानर—दिक्, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार नामक देवताओं से यथाक्रम नियन्त्रित हुए श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन स्थूल विषयों का उसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति इन देवताओं के द्वारा क्रम से नियन्त्रित वाक्, पाणि, पाद, पायु (मलविसर्जनेन्द्रिय अर्थात् गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) इन पंच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः वचन (बोलना), आदान (लेना ग्रहण करना), गमन (चलना), विसर्ग (मल त्याग करना) और आनन्द (रतिक्रीडा का आनंद) इन स्थूल विषयों का—उसी प्रकार चन्द्रमा, ब्रह्मा, शङ्कर और विष्णु इन देवताओं के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन अन्तरिन्द्रियों (अन्तःकरणों) से क्रमशः संकल्प, निश्चय, गर्व और स्मरण इन सम्पूर्ण स्थूल विषयों का अनुभव (भोग) करते हैं। इसी अभिप्राय को माण्डूक्य उपनिषद् ने "जागरितस्थानः (जागरितं स्थानम् अवस्था यस्य

सः) जागरित अवस्थावाला बहिः प्राज्ञः (बहिः स्वात्मव्यतिरिक्तविषयेषु प्रज्ञा बुद्धिः यस्य सः) बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला वैश्वानर ही स्थूल विषयों का भोग करता है।" इस श्रुति के द्वारा प्रकट किया है।

यहाँ पर भी स्थूलशरीरों की समष्टि और व्यष्टि में तथा उनसे उपहित चैतन्य वैश्वानर एवं विश्व में वन-वृक्ष या जलाशय-जल तथा तत्प्रतिबिम्बित आकाश की तरह कोई भेद नहीं है।

इस रीति से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है ॥ २१ ॥

व्युत्पत्तिः—सर्वनराभिमानित्वात्—अखिल प्राणियों (प्राणिमात्र) का अधिष्ठाता होने से।

जाग्रत्—भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति इन्द्रियों के द्वारा की जाने के कारण इसे जाग्रत् कहते हैं।

विश्वः—कारण शरीर (सूक्ष्म शरीर-लिङ्ग शरीर) तथा स्थूल शरीर में प्रविष्ट रहने से चैतन्य को विश्व कहते हैं।

तदानीम्—जाग्रत् अवस्था में। वैश्व चैतन्य की जाग्रत् अवस्था वह है, जिसमें वह इन्द्रियों के माध्यम से विषयों को भोगता है। पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न होनेवाली स्थूल जगत् की सृष्टि ही वैश्वानर की जाग्रदवस्था है।

चैत्तान्—चित्त से सम्बद्ध स्मरण आदि ॥ २१ ॥

स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रपञ्च के समष्टिरूप महाप्रपञ्च का निरूपण कर रहे हैं—

(महाप्रपंचनिरूपणम्)

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान्प्रपंचो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चेतन्यमप्यवान्तरवाना-

वच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैक-मेव । आभ्यां महाप्रपंचतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवद-विविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति वाक्यस्य वाक्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति । एवं वस्तु-न्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः ॥ २२ ॥

सारबोधिनी—व्यष्टिभूतायाः कारणसृष्टेः सूक्ष्मसृष्टेः स्थूलसृष्टेश्च प्रत्येक-विवक्षया अवान्तरप्रपञ्चत्वं निरूप्य इदानीं तेषां समष्टेरेव महाप्रपंचत्व प्रदर्शयति—एतेषामिति । तत्र दृष्टान्तमाह—यथावान्तरेति । यथा खदिर-पलाश-धवादिवृक्षाणाम् अवान्तरवनानां समष्टिः समुदायविवक्षया एकं महद् वनं भवति, यथा च कूप-वापी-तडागादीनामवान्तरजलाशयानां समुदायविव-क्षया एको महान् जलाशयो भवति, तथैव स्थूल-सूक्ष्म-कारणाख्यानामवान्तर-प्रपञ्चानां समूहः एको महान् प्रपञ्चो भवति । यथा च अवान्तरवनावच्छिन्ना-काशवत् अवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवत् तथैव अवान्तर-महाप्रपञ्चो-पहितानां विश्व-तैजस-प्राज्ञानां वैश्वानर-हिरण्यगर्भाव्याकृतानां च अभेदः ।

निर्दिष्टेन महाप्रपञ्चेन तया तदुपहितचैतन्येन च अभिन्नं सत् अनुपहितं (उपाधिरहितं) चैतन्यं (विशुद्धं चैतन्यं) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्य महा-वाक्यस्य वाच्यार्थः, तथा भिन्नं सत् लक्ष्यार्थो भवति । यथा अग्नौ प्रक्षेपेण प्रदीप्ताग्निरूपतां प्राप्तेन लोहेन दग्धः 'अहं लोहेन दग्धः' इत्याक्रन्दते । वस्तुतो दाहकता तु अग्निप्रयुक्तैव, न लोहप्रयुक्ता, प्रत्युत अग्निसम्पर्केणैव, अग्निलोहयोस्तादात्म्याध्यासः । तथैव महाप्रपञ्चेन तदवच्छिन्नचैतन्येन सह परस्परतादात्म्याध्यासापन्नं यदनुपहितं चैतन्यं (विशुद्धं चैतन्यं) तदेव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्य वाच्यार्थतां लभते तथा पूर्वोक्तेन प्रपञ्चेन विविक्तं (भिन्नं) सत् तस्य महावाक्यस्य लक्ष्यार्थतां लभते ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अत्र सर्वस्य ब्रह्मरूपता प्रतिपाद्यते । तत्र सर्वम् अर्थात्

महाप्रपंचः, तदुपहितं चैतन्यं, तदनुपहितं चैतन्यञ्च कथमेकं स्यादिति विचिकित्सायां मुख्यार्थस्य बाधः, इति लक्षणया सर्वं खल्विदम् इति विशेषणाशं परित्यज्य चैतन्यांशमात्रग्रहणेन महाप्रपञ्चोपहितचैतन्यस्य तदनुपहितचैतन्येन सह ऐक्यं निर्विवादमेव। यथा 'लौहपिण्डो दहति' इत्यस्य लक्षणया लौहपिण्डगतः अग्निर्दहति—इत्यर्थो भवति, तथैव सर्वस्य एतत्प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वाभावे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अस्मिन् वाक्येऽपि 'सर्वं खल्विदम्' इत्यस्य अंशस्य चैतन्यांशे लक्षणया सर्वप्रपंच-तद्गतचैतन्ययोश्च ऐक्यं सिद्ध्यति। एतावता प्रघट्टकेन ईश्वरचैतन्ये महाप्रपञ्चस्य आरोपप्रकारः सामान्यतया प्रदर्शितः। अर्थात् वस्तुनि चैतन्ये अवस्तुनः जडप्रपञ्चस्य आरोपः अध्यारोपः सक्षेपेण निरूपितः ॥ २२ ॥

विमला—व्यष्टिरूप कारणसृष्टि, सूक्ष्मसृष्टि और स्थूलसृष्टि के अवान्तर प्रपंच का प्रत्येक की विवक्षा से निरूपण करने के पश्चात् अब उन्हीं के समष्टि रूप महाप्रपंच को बता रहे हैं—एतेषाम् इति। जैसे—खैर, पलाश (ढाक) धवादि वृक्षों के अवान्तर वनों की समष्टि को समुदाय की दृष्टि से कहना चाहने पर एक महान् वन कह देते हैं। अर्थात् पृथक्-पृथक् वनों का समष्टि (समुदाय) को एक महान् वन कह देते हैं। अथवा भिन्न-भिन्न जलाशयों की समष्टि (समुदाय) मिलकर एक महान् जलाशय कहलाता है, उसी प्रकार कारणसृष्टि, सूक्ष्मसृष्टि और स्थूलसृष्टि की समष्टि भी एक महान् सृष्टि बन जाती है। अर्थात् महाप्रपंच बन जाता है। जिस प्रकार अवान्तर वनों से अवछिन्न होने वाला (सीमित होने वाला) आकाश, वस्तुगत्या एक ही रहता है अथवा भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित हुआ आकाश वस्तुतः एक ही रहता है, उसी प्रकार उक्त त्रिविध सृष्टियों से उपहित हुए चैतन्य अर्थात् ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर भी एक ही है, उनमें भेद नहीं है। चाहे वह चैतन्य समष्टिरूप उपाधि से या व्यष्टि रूप उपाधि से उपहित हों। उन उपहित हुए चैतन्यों में कोई भेद नहीं होता, अतः ईश्वर-प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ-तैजस, वैश्वानर-विश्व नामक चैतन्यों में परस्पर कोई भेद नहीं है।

स्थूलप्रपञ्च-सूक्ष्मप्रपञ्च-कारणप्रपञ्च की समष्टिभूत इस महाप्रपञ्च तथा तदुपहित (महाप्रपञ्चरूप उपाधि से युक्त) चैतन्य से अग्नि में प्रतप्त हुए लोहे के गोले के समान प्रतीत न होने वाला अनुपहित (किसी भी उपाधि से युक्त न होने वाला अर्थात् विशुद्ध) चैतन्य—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—(छां० उ० ३।१४।१) यह समस्त चराचर जगत्, ब्रह्म ही है—इस श्रुतिवचन का वाच्य (अभिधेय) अर्थ होता है और वही विशुद्ध चैतन्य, महाप्रपञ्च तथा तदुपहित चैतन्य से अलग (विविक्त-भिन्न) प्रतीत होने पर लक्ष्य अर्थ भी होता है। जैसे—लोहे का गोला धधकते अग्नि में डाल देने पर वह भी अग्नि के समान ही लाल हो जाता है और उससे जल जाने पर 'मैं लोहे से जल गया' कहा जाता है! लेकिन दाहकता शक्ति तो वस्तुतः अग्नि में होती है, लोहे में नहीं, किन्तु अग्नि के सम्बन्ध से लोहे का और अग्नि का परस्पर तादात्म्याध्यास होता है। वैसे ही महाप्रपञ्च तथा उससे अवच्छिन्न हुए चैतन्य के साथ परस्पर तादात्म्याध्यासापन्न जो अनुपहित (विशुद्ध) चैतन्य है, वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्यार्थ है और उक्त महाप्रपञ्च एवं तदवच्छिन्न चैतन्य के परस्पर तादात्म्याध्यास से जब विशुद्ध चैतन्य को अलग समझते हैं, तब वही (विशुद्ध) चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है। यहाँ तक ईश्वर चैतन्य में महाप्रपञ्च का आरोप कैसे किया जाता है—यह सामान्य रूप से (संक्षेप से) बताया गया ॥ २२ ॥

व्युत्पत्तिः—वाच्यम्—लोहे के गोले को आग में डालने से वह तपकर अग्नि जैसा ही लाल हो जाता है। तब उसके छू लेने से जल जाने पर "मैं लोहे के गोले से जल गया" कहने लगते हैं। वास्तव में जलना तो आग से होता है, लोहे से नहीं। लेकिन जब लोहे को अग्नि माना जाय अर्थात् लोहे में और अग्नि में तादात्म्य माना जाय तभी यह व्यवहार (मैं लोहे के गोले से जल गया) उपपन्न हो सकता है (बन सकता है)। उसी प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—यह सब (महाप्रपञ्च रूप उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य) ब्रह्म (अनुपहित विशुद्ध चैतन्य) ही है—का व्यवहार तभी बन सकता है

कि जब महाप्रपञ्च रूप उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य और विशुद्ध चैतन्य में अभेद (तादात्म्याध्यास अर्थात् तादात्म्य) माना जाय। तभी तत्तत् अर्थ (लोहा जलता है) और अविविक्त (अभिन्न विशुद्ध-चैतन्य)— 'अयो दहति' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इन वाक्यों के वाच्य अर्थ कहलाते हैं।

लक्ष्यम्—शब्द की लक्षणा शक्ति से जो अर्थ बताया जाता है, उसे लक्ष्य अर्थ कहते हैं। लक्षणा-शक्ति से काम तभी लिया जाता है, जब मुख्य अर्थ का बाध होता हो अर्थात् मुख्य अर्थ सम्भव न हो सकता हो। प्रस्तुत प्रसंग में भी कह सकते हैं कि महाप्रपंच तथा उससे उपहित चैतन्य एवं अनुपहित चैतन्य, इन सबको एक कैसे समझा जा सकता है, क्योंकि जड़महाप्रपंच और उपहित चैतन्य दोनों से अनुपहित चैतन्य को अर्थात् जड़-चेतन एवं उपहित तथा अनुपहित को एक समझ लेना कभी सम्भव नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ का बाध होने से लक्षणा करनी होगी। जैसे—'लौहपिण्डो दहति' में मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध हो जाता है, क्योंकि लोहे का कार्य जलाना नहीं है अतः 'लौह' शब्द की लौह सम्बद्ध 'अग्नि' में लक्षणा की जाती है तब 'लोहे की आग जलाती है' यह लक्ष्यार्थ निकलता है। उसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति वाक्य का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) भी सम्भव नहीं बन पा रहा है, क्योंकि महाप्रपंच तो जड़ है और उससे उपहित चैतन्य सोपाधिक (ससीम मर्यादित) है, ऐसी स्थिति में इन दोनों की निरुपाधिक (निःसीम) चेतन (ब्रह्म) के साथ एकता होना कैसे संभव है? अतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्य का तात्पर्य समझने के लिये लक्षणा करनी पड़ेगी। तब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य में 'सर्वं खल्विदं' की चैतन्यांश में लक्षणा करनी होगी अर्थात् 'इदं' पदार्थः विशेषणांश (सर्वं) का परित्याग करना होगा और केवल 'चैतन्य' अंश का ग्रहण करना होगा, तब 'इदं' पदार्थ चैतन्य और ब्रह्मचैतन्य की एकता हो जाती है। इस लक्षणा को भागत्याग-लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) कहते हैं॥ २२॥

प्रत्यगात्मा में विशेषरूप से अध्यारोप का प्रकार दिखाते हैं—

(पुत्रादीनामात्मत्वसाधनम्)

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु "आत्मा वै जायते पुत्र" इत्यादिश्रुतेः स्वास्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति। चार्वाकस्तु "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति। अपरश्चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः" इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति। अपरश्चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति। अन्यस्तु चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं संकल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति। बौद्धस्तु "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय" इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति। प्राभाकरतार्किकौ तु "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।

भाट्टस्तु "प्रज्ञानघन एवानन्दमय" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति । अपरो बौद्धः "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति ॥२३॥

सारबोधिनी—पूर्वग्रन्थेन सामान्यतः ईश्वरचैतन्ये महाप्रपञ्चस्य अध्यारोपप्रकारः सविस्तरमभिहितः इदानीं प्रत्यगात्मनि 'अयमात्मा, अयमात्मा' इति विशेषारोपप्रकार दर्शयितुमुपक्रमते—इदानीमित्यादिना । इदमिदमिति अध्यारोपमाह । प्रत्यक्षादिसन्निहितस्य अपत्यादेः इदमिति निर्देशः । इदमिदमित्यादरे वीप्सा ।

१. अतिप्राकृताः स्थूलबुद्धयो लोकाः "आत्मा वै जायते पुत्रः" इति श्रुतिप्रमाणेन, स्वसुतेऽपि स्वदेहनिर्विशेषप्रेम्णा अर्थात् स्वशरीरे प्रेमदर्शनात् आत्मावभ्रमः एवं—इति युक्त्या, पुत्रे पुष्टे नष्टे च अहमेव पुष्टो नष्टो वा जातः स्वपुत्रादिशरीरेऽपि प्रेमदर्शनात् आत्मत्वभ्रमः इत्यनुभवेन च पुत्रमेव 'अहं' पदवाच्यं प्रत्यक् चैतन्यं कथयन्ति ।

२. एतदपेक्षया विशिष्टबुद्धिरन्यः चार्वाकः कथयति—स्थूलशरीरमेव आत्मा, न पुत्रादिः यतः अग्निना गृहे प्रदीप्ते सति पुत्रादिकं परित्यज्यापि स्वशरीररक्षणेच्छया तस्माद् गृहाद् बहिर्निर्गच्छति—इति युक्त्या पुत्राद्यपेक्षया स्वशरीरे मोहाधिक्यं दृश्यते । अत्र विषये चार्वाकाः 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इति श्रुतिप्रमाणेन, तथा 'अहं स्थूलः' 'अहं कृशः' इति अनुभवेन च स्वस्थूलशरीरे एव आत्मत्वं प्रतीयते । पुत्रस्य आत्मत्वाऽभावे युक्त्यनुभवश्रुतिप्रमाणादिकं दर्शयन्नयं चार्वाकः पूर्वोक्तात् अतिप्राकृतात् आत्मनो वैलक्षण्यं दर्शितवान् ।

३. ततोऽप्युत्कृष्टः कोऽपि लोकायतचार्वाकः युक्त्यनुभवश्रुतिभ्यः इन्द्रियाणि आत्मा इति वदति सुषुप्तावस्थायां निश्चेष्टावस्थायाञ्च सर्वेषामि-

न्द्रियाणां व्यापारे विरते सति इदं शरीरं न किमपि गमनागमनादिव्यापारं कर्तुं प्रभवति—इति तत्र युक्तिः। 'काणोऽहं, बधिरोऽहम्' इति तत्रानुभव, एतदतिरिच्य 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः'—इति श्रुतिरपि प्रमाणम्। प्रजापतेः सन्निधौ गमनं, कथनञ्चैतत्सर्वम् अचेतने नैव सम्भवति। इन्द्रियव्यापारेणैव शरीरस्य गमनादिकं सम्भवति, अतः इन्द्रियाण्येवात्मा इति प्रतीयते।

४. ततोऽप्युत्कृष्टतरः कोऽपि प्राणात्मवादी चार्वाकः युक्त्यनुभवश्रुतिबलात् प्राण एव आत्मा इत्याह। स कथयति....न शरीरं, नापि च इन्द्रियाणि आत्मा, किन्तु तद्भिन्नाः प्राणा एव प्रत्यगात्मा तैर्विना शरीरस्य इन्द्रियाणां वा व्यापारो न भवति, अतः तदतिरिक्तः कश्चिदस्ति यः साधनभूतैरेभिः शरीरेन्द्रियैः कर्म करोति—इति युक्तिः, 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'—इति तत्र श्रुतिः, तथा 'बुभुक्षितोऽहं', 'पिपासितोऽहम्'—इति तत्राऽनुभवोऽपि।

५. ततोऽपि विशिष्टः कश्चन मन आत्मवादी चार्वाकः युक्त्यनुभवश्रुतिबलात् मन एवात्मा इत्याह। स वदति—'प्रत्येकज्ञाने प्राणादिभिः सह मनसंयोगः अत्यावश्यकः इति मनसि सुप्ते प्राणाः न किञ्चित् कर्तुं समर्थाः—इति युक्तिः। 'सङ्कल्पमहं करोमि' 'विकल्पमहं करोमि'—इति अनुभवः। "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः"—इति श्रुतिः।

६. उपर्युक्तेभ्यः पञ्चभ्यो विलक्षणः योगाचारमतावलम्बी कश्चिद् विज्ञानवादी बौद्धः बुद्धिमेव प्रत्यक्चैतन्यं वदति। तदुपकरणरूपाणि मन इन्द्रियाणि च कर्त्रभावे केवलं करणं कार्यसम्पादने समर्थं न भवति, इति तत्र युक्तिः। 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता'—इत्यनुभवोऽपि तत्रास्ते। तथा 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'—इति श्रुतिरपि तत्र प्रमाणम्। एवञ्च युक्त्यनुभवश्रुतिबलेन ज्ञायते यत् शरीरेन्द्रियापेक्षया अन्य एव कश्चित् कर्ता स्वकृतकर्मणः फलस्य भोक्ता च वर्तते, स च बुद्धिरेव। अतो बुद्धिरेव आत्मा (प्रत्यक् चैतन्यम्) अस्ति।

उक्तेभ्यः अतिरिक्तौ प्राभाकर-तार्किकौ स्वमतानुकूलश्रुत्यादिबलात् 'अज्ञानमेवात्मा' इति वदतः।

प्राभाकरमतानुयायिनो मीमांसकास्तार्किकाश्च वदन्ति—बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-

दीनामज्ञाने (ज्ञानभिन्ने आत्मनि) लयः,—इति युक्तिः । 'अहमज्ञः, अहमज्ञानी' इत्यनुभवः । "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः"—(तैत्ति० २।५।१) इति श्रुतिः । एवञ्च युक्त्यनुभवश्रुतिबलात् 'अज्ञानमेवात्मा' इति ।

कुमारिलभट्टसम्प्रदायानुयायिनो मीमांसकाः कथयन्ति—

'अज्ञानोपहितं चैतन्यमेवात्मा' इति । यतः मनसः इन्द्रियाणां च व्यापारः सुषुप्तिकाले न भवति । मनसः इन्द्रियाणां च व्यापारद्वारा समुत्पन्नेन ज्ञानेन जायमानः परामर्शो (सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्) ऽपि तदानीं न भवति, किन्तु स्वापादुत्थितस्य स परामर्शो भवति । सुषुप्तौ अन्यस्य कस्यचित् अभावात् । एवञ्च सुषुप्तौ अज्ञानस्य ज्ञानस्य चास्तित्वेन प्रकाशाप्रकाशसद्भावः—इति युक्तिः । 'मामहं न जानामि' इत्यनुभवः । "प्रज्ञानघन एवानन्दमयः—(माण्डू० ५) इति श्रुतिः । तस्माद् युक्त्यनुभवश्रुतिबलात् अज्ञानोपहित-चैतन्यम्—आत्मा इति । अस्मिन् जायमाने परामर्शे सुखमहमस्वाप्समिति ज्ञानांशस्य प्रकाशकत्वात् सुषुप्तिदशायां प्रकाशसद्भावः, तथा न किञ्चिदवेदिषम् इत्यत्र ज्ञानाभाववत्त्वदर्शनात् अप्रकाशसद्भावः । एवं सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशयोरुभयोः स्थितिः । तथैव मामहं न जानामि—इत्यनुभवेऽपि द्वावंशौ स्तः—एकः कर्त्रंशः, अन्यश्च ज्ञानांशः । तेन ज्ञानापेक्षया ज्ञाता अन्यः इति स्पष्टं भवति । स एव ज्ञाता अज्ञानोपहितः चैतन्यरूप एव आत्मा इति ।

माध्यमिकमतानुयायिनो बौद्धाः कथयन्ति—'असदेवेदमग्र आसीत्'—(छां० उ० ६।२।१) नामरूपात्मकमिदं जगत् सृष्टेः पूर्वम् असत् (शून्यं) एव आसीत्—इति श्रुतिः । सुषुप्तौ न किञ्चित् तिष्ठति इति युक्तिः । सुषुप्तेः पश्चात्, प्रबुद्धस्य 'सुषुप्तौ अहं नासम्' इति निजाभावपरामर्शविषयकः अनुभवोऽपि भवति । अतः श्रुतियुक्त्यनुभवबलेन सर्वाभावात्मक शून्यमेव आत्मा इति । उपर्युक्तानुभवबलेन च आत्मनो द्रव्यात्मकत्वं (अप्रकाशकत्वं), तथा बोधात्मकत्वं (प्रकाशात्मकत्वं) च नाभ्युपगन्तव्यम् । अपि तु सर्वाभावरूपशून्यत्वमेवात्मनः सिद्ध्यति ॥ २३ ॥

विमला—अभी तक 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् पदार्थ ब्रह्म पर किये

जाने वाले अध्यारोप का निरूपण किया जा चुका। अब 'त्वम्' पदार्थ प्रत्यगात्मा पर किये जाने वाले कतिपय अध्यारोपों का निरूपण कर रहे हैं। भिन्न-भिन्न मतावलम्बी (पूर्वपक्षी) लोग प्रत्यगात्मा (आत्मा) पर अपने-अपने विचारानुसार श्रुति, युक्ति और अनुभव को समझते हुए उन्हें प्रदर्शित कर व्यावहारिक वस्तुओं को ही आत्मा (प्रत्यगात्मा) कह रहे हैं—

१. अत्यन्त स्थूल (मोटी) बुद्धिवाले 'अतिप्राकृत' लोगों को 'पुत्रात्मवादी' के रूप में उपस्थित किया है। उनका कहना है कि 'अहं' पदवाच्य आत्मा और कोई न होकर 'पुत्र' ही है। अपने विचार के समर्थन में वे 'आत्मा वै जायते पुत्र:'—आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है—इस श्रुतिवचन को उपस्थित करते हैं। उसी तरह युक्ति भी देते हैं कि पुत्र के ऊपर अपने समान ही प्रेम अर्थात् अपने शरीर से जितना स्नेह (प्रेम) किया जाता है उतना ही स्नेह (प्रेम) पुत्र से भी किया जाता है। तथा अनुभव भी बताते हैं—पुत्र को पुष्ट या नष्ट होने पर 'मैं' ही (अपने को ही) पुष्ट या नष्ट हुआ समझते हैं। अत: श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के बल पर समझ में आता है कि 'पुत्र' ही आत्मा है।

२. इससे उत्कृष्ट बुद्धिवाले चार्वाक को 'स्थूलशरीरात्मवादी' के रूप में उपस्थित किया है। उसका कहना है कि 'अहं' पदवाच्य आत्मा और कोई न होकर स्थूलशरीर ही आत्मा है। अपने विचार के समर्थन में वे 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:'—(तै० उ० २।१।१) अन्न के रस (वीर्य) का विकार यह (साक्षात् दृश्यमान) शरीर वह (आत्मा) है इस श्रुति को उपस्थित करते हैं। उसी तरह युक्ति भी भी देते हैं कि घर में आग लग जाने पर जलते हुए घर से अपने पुत्र को भी परवाह न कर अपने शरीर को बचाने का प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् जलते घर में पुत्र को भी छोड़ दिया जाता है और अपने शरीर को ही उसके बाहर निकाल लिया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुत्र की अपेक्षा अपने शरीर पर ही अत्यधिक मोह रहता है।

उसी तरह 'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुबला हूँ' यह अनुभव भी सबको हुआ

करता है। इस श्रुति-युक्ति तथा अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि 'पुत्र' को आत्मा कहना उचित नहीं, अपितु यह दृश्यमान 'स्थूलशरीर' ही अहंपदवाच्य आत्मा है।

३. इनसे भी उत्कृष्ट बुद्धिवाले लोकायत चार्वाक को इन्द्रियात्मवादी के रूप में उपस्थित किया गया है। इनका कहना है कि अपनी जो इन्द्रियाँ हैं वे ही अहंपदवाच्य आत्मा है। अर्थात इन्द्रियों को ही आत्मा कहना उचित है। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः—(छां० उ० ५।१।७) वे प्राण (इन्द्रियाँ) अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए कलह करते हुए पिता प्रजापति के समीप पहुँच कर बोले (हम लोगों में कौन श्रेष्ठ है ?) इस श्रुतिवचन को उपस्थित किया है। उसी तरह युक्ति भी देते हैं कि सुषुप्तिकाल में या चेष्टारहित अवस्था में जब इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं करतीं तब यह शरीर भी गमनागमनादिकार्य करने में समर्थ नहीं रहता। उसी तरह अनुभव भी बताते हैं—'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' लोग कहते पाये जाते हैं। इस प्रकार श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के बलपर यह स्पष्ट होता है कि दृश्यमान स्थूलशरीर को आत्मा कहना उचित नहीं, अपितु इन्द्रियों को ही आत्मा कहना उचित है।

४. इनसे भी उत्कृष्ट बुद्धि वाले कुछ चार्वाक हैं जिन्हें प्राणात्मवादी के रूप में उपस्थित किया गया है। इनका कहना है कि इन्द्रियाँ तथा शरीर इनमें से कोई भी अहंपदवाच्य आत्मा नहीं कहा जा सकता, अपितु इन दोनों से भिन्न जो प्राण हैं, वे ही अहंपदवाच्य आत्मा है। अपने विचार के समर्थन में "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः"—(तै० उ० २।२।१) अन्नरस के विकार-स्वरूप इस शरीर से भिन्न उसके भीतर रहने वाला 'आत्मा' 'प्राणमय' है—इस श्रुतिवचन को उपस्थित किया है। तथा युक्ति भी देते हैं कि प्राण के बिना यह शरीर अथवा इन्द्रियाँ कोई भी काम नहीं कर पाते। तथा अनुभव भी बताते हैं—'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' यह कहते हुए सभी पाये जाते हैं। अतः श्रुति-युक्ति तथा अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि शरीर को

या इन्द्रियों को आत्मा कहना उचित नहीं, किन्तु प्राण को ही अहंपदवाच्य आत्मा कहना उचित है।

५. उससे भी उत्कृष्ट बुद्धिवाले कुछ चार्वाक हैं, जिन्हें 'मनआत्मवादी' के रूप में उपस्थित किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों को आत्मा कहना उचित नहीं, अपितु उन इन्द्रियों तथा प्राणों के नियन्त्रक मन को ही आत्मा कहना उचित होगा। अपने इस विचार के समर्थन में "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय"—(तै० उ० २।३।१) प्राणमय आत्मा से पृथक् उसके परे रहने वाला आत्मा मनोमय है इस श्रुतिवचन को उपस्थित किया है। तथा युक्ति भी देते हैं कि सभी प्रकार के ज्ञानों में प्राणादिकों के साथ मन का सम्बन्ध (संयोग) आवश्यक होता है, क्योंकि मन के सो जाने पर प्राण का विलय होता है, तथा मन के अधीन प्राणों की प्रवृत्ति हुआ करती है। उसी प्रकार 'मैं संकल्प करता हूँ', 'मैं विकल्प करता हूँ' इत्यादि अनुभव भी सबको हुआ करता है। अतः श्रुति-युक्ति और अनुभव के बल पर स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त प्राण आदि में से कोई आत्मा नहीं, अपितु उन सबका नियन्त्रक मन ही आत्मा है।

६. उपर्युक्त चारों मत चार प्रकार के चार्वाकों के बताने के बाद विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध अपनी उत्कृष्ट बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। उनका कहना है कि बुद्धि (क्षणिक विज्ञान) ही आत्मा है। 'पूर्ववादियों के द्वारा बताया हुआ मन तथा इन्द्रियाँ तो करण हैं। कर्ता के बिना केवल करण में कार्य करने का सामर्थ्य नहीं होता'—इस युक्ति से तथा 'मैं करता हूँ' 'मैं भोगता हूँ', इस अनुभव से और 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'—(तैत्ति० २।४।१) मनोमय आत्मा से भिन्न उसके भीतर रहनेवाला आत्मा विज्ञानमय है, यह श्रुति भी है। अतः युक्ति, अनुभव तथा श्रुति के बल पर यह स्पष्ट होता है कि कर्म करने वाला तथा उसका फल भोगने वाला पूर्वोक्त शरीर प्राण आदि से भिन्न ही कोई आत्मा होना चाहिए। अतः पूर्वोक्त उन सबसे भिन्न बुद्धि (क्षणिक विज्ञान) ही अहंपदवाच्य आत्मा है।

७. प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक और तार्किकों का कहना है कि

"अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः"—(तैत्ति० २।५।१) विज्ञानमय आत्मा से भिन्न, उसके भीतर रहनेवाला आत्मा आनन्दमय है, इस श्रुतिवचन से तथा बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा धर्माधर्मरूप अदृष्ट का सुषुप्ति के समय अज्ञान (ज्ञान से भिन्न) रूप किन्तु ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा में लय हो जाता है—इस युक्ति से और 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ'—इस अनुभव से यह स्पष्ट होता है कि 'अज्ञान ही' अहंपदवाच्य आत्मा है। अर्थात् क्षणिक-विज्ञान से भिन्न किन्तु उसके अधिकरणात्मक द्रव्यरूप आत्मा है। एवञ्च क्षणिक-विज्ञानवादी के द्वारा सम्मत ज्ञान को आत्मा नहीं कह सकते और मैं ज्ञानहीन हूँ, या मैं ज्ञानवान् हूँ इस अनुभव से ज्ञान तथा आत्मा दोनों में धर्म-धर्मिभाव की प्रतीति होती है, जिससे ज्ञान और आत्मा में स्पष्टतया भेद (भिन्नता) ज्ञात होता है, एकता नहीं।

८. कुमारिल भट्ट के मतानुयायियों का कहना है कि 'अज्ञान' को आत्मा न कहकर 'अज्ञानोपहित चैतन्य' को ही आत्मा कहना चाहिये। अपने विचार के समर्थन में वे 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः'—(माण्डू० ५) आत्मा प्रज्ञानघन (प्रज्ञानैकरस) तथा आनन्द प्रचुर है—इस श्रुति से तथा सुषुप्तिकाल में प्रकाश (ज्ञान) और अप्रकाश (अज्ञान) दोनों की सत्ता रहती है—इस युक्ति से और 'मामहं न जानामि'—मैं अपने को नहीं जानता हूँ इस अनुभव से (इस अनुभव में एक कर्ता का अंश है और दूसरा ज्ञान का अंश है) यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता अन्य है, उसी को आत्मा कहना उचित है, अतः अज्ञान को आत्मा न कहकर अज्ञानोपहित (अज्ञान-सम्बलित) चैतन्य को ही आत्मा कहना चाहिये।

९. माध्यमिक मतानुयायी बौद्धों का कहना है कि सर्वाभावरूप शून्य ही आत्मा है। वह द्रव्यबोधरूप नहीं है। इनके मत में आत्मा नाम की कोई वस्तु न होकर वह शून्य है। अपने विचार के समर्थन में वे 'असदेवेदमग्र आसीत्'—(छां० ६।२।१) सृष्टि के पूर्व नामरूपात्मक यह जगत्, असत् (शून्य) था इस श्रुतिवचन से तथा सुषुप्तिकाल में द्रष्टा-दृश्य आदि सबका अभाव हो

जाता है—इस युक्ति से और गाढनिद्रा से उठने के बाद 'नींद में कुछ पता ही न चला ऐसा लगता है जैसे कि मैं था ही नहीं' इस प्रकार अपने ही अभाव का अनुभव होता है। एवञ्च श्रुति-युक्ति-अनुभव के बल पर यह स्पष्ट होता है कि सर्वाभावरूप शून्य ही अहंपदवाच्य आत्मा है। अज्ञान सवलित चैतन्य नहीं। अपने विचार के समर्थन में छान्दोग्य उपनिषद् का वचन शून्यवादी ने यद्यपि उपस्थित किया है, तथापि उसे सिद्धान्तरूप में न समझकर पूर्वपक्ष के रूप में समझना चाहिये, क्योंकि आगे उसका निषेध किया जायगा।

उपर्युक्त नौ वादियों में से प्रत्येक ने अपने अपने से पूर्ववादी का खण्डन कर दिया है। ये वादी क्रमशः स्थूल से लेकर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तक पहुँच पाये हैं। इनमें चार्वाक भौतिकवादी हैं जैसे आजकल के वैज्ञानिक ॥ २३ ॥

व्युत्पत्तिः—'विज्ञानमयः' यहाँ 'विज्ञान' शब्द विज्ञानमयकोश के अर्थ में है। किन्तु बौद्ध ने उसे (विज्ञान शब्द को) क्षणिक विज्ञान का वाचक माना है और श्रुति को अपने मत के समर्थन में जगाया है।

कर्तुरभावे·····शक्त्यभावात्—चक्र, चीवरादि घटनिर्माण करने के साधन हैं। किन्तु कुलाल (कर्ता) के बिना वे सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् घटनिर्माण नहीं कर पाते। उसी तरह मन आदि इन्द्रियाँ ये करण (साधन) हैं, किन्तु बुद्धिरूप कर्ता के बिना वे मन, इन्द्रियाँ आदि साधन अपना काम नहीं कर सकते। बुद्धि ही इन सबका नियन्त्रण करती रहती है।

प्रभाकर—पूर्व-मीमांसा दर्शन के दो धुरन्धर विद्वान् हुए हैं, एक कुमारिलभट्टपाद और दूसरे प्रभाकर मिश्र। प्रभाकर का ही दूसरा [illegible] है। दोनों ने पूर्वमीमांसादर्शन के भाष्य (शबर स्वामिकृ[illegible] पर अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। तब से पूर्वमीमांसा में दो सम्प्रदाय चल पड़े—(१) भाट्ट सम्प्रदाय और (२) प्रभाकर (गुरु) सम्प्रदाय. कुमारिलभट्टपाद के अनुयायियों को 'भाट्ट' और प्रभाकर के अनुयायियों को 'प्राभाकर' कहते हैं। प्राभाकर और तार्किक दोनों का आत्मा के सम्बन्ध में एक-सा ही विचार है। दोनों के विचार से 'आत्मा' न आनन्दरूप है और न ज्ञानरूप ही है। ये

दोनों आत्मा को सुख का तथा ज्ञान का आश्रय मानते हैं। एक ही वस्तु में आश्रयाश्रयि-भाव (आधाराधेयभाव) हो नहीं सकता, वह तो दो वस्तुओं में ही होता है। इसलिये ज्ञान से भिन्न अर्थात् अज्ञान ही आत्मा है। अज्ञान का स्वरूप वेदान्तियों के समान इन दोनों ने नहीं माना है, और न आत्मा को चिद्रूप ही माना है। अपितु उसे (आत्मा को) ज्ञानाश्रय, स्वतः जड़ और अनादि स्वीकार किया है। ऐसा आत्मा 'सत्य ज्ञानं' श्रुति के प्रतिकूल होने से वेदान्तियों की दृष्टि से अज्ञानरूप ही कहा जायगा। प्राभाकर और तार्किकों (नैयायिकों) को समस्त आत्मरूप अज्ञान, बौद्धों के क्षणिक विज्ञान से भिन्न है तथा ज्ञान का अधिकरण होने से द्रव्यरूप है। बुद्धि, सुख, दुःखादिकों का सुषुप्ति के समय अज्ञान में अर्थात् ज्ञान भिन्न आत्मा में लय होता है अतः उनका अभाव रहने से क्षणिक विज्ञान (बुद्धि) को इन्होंने आत्मा नहीं माना है।

कुमारिलभट्टपाद—ये कहते हैं कि अज्ञान को आत्मा कहना ठीक नहीं। सुषुप्तिकाल में 'मैं ऐसी सुख की नींद सोया कि कुछ पता ही नहीं चला' यह अनुभव सभी को जागने पर होता है। अतः कहना पड़ेगा कि सुषुप्ति के समय सुख का अनुभव करने वाला आत्मा बोधात्मक है। 'सुख से सोया' यह बोधांश प्रकाशक है। अतः सुषुप्ति में प्रकाश सद्भाव है। क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियों का और मन का भी व्यापार नहीं रहता। अविद्या स्वयं जड़ होने से उसे प्रकाशिका नहीं कह सकते। इसलिये सुषुप्ति में 'न किञ्चिदवेदिषम्'—कुछ पता नहीं चला—अर्थात् इस विज्ञानाभाव के ज्ञान की उपपत्ति के लिए आत्मा को द्रव्यरूप स्वीकार करना होगा। वह अप्रकाशक है 'न किञ्चिदवेदिषम्' में विज्ञानाभाव होने के कारण अप्रकाश सद्भाव भी है। इस तरह सुषुप्ति में प्रकाशाप्रकाशसद्भाव दोनों रहते हैं। अर्थात् उस समय प्रकाश और अप्रकाश दोनों की सत्ता रहती है। इसी प्रकार 'अहं मां न जानामि'—यहाँ 'अह' पद का वाच्य 'आत्मा' कर्त्ता है, जो 'माम्' पद के वाच्य 'आत्मा' का कर्म भी सिद्ध करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल सुषुप्ति में ही आत्मा की ज्ञानाज्ञानरूप दो अवस्थाएँ नहीं, अपितु अन्य अवस्था में भी उसी एक आत्मा में कर्तृत्व-

कर्मत्व दो अवस्थाएँ होती हैं 'माम् अहं जानामि या न जानामि' में एक कर्त्रंश और दूसरा ज्ञानांश है। अतः ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता अन्य है यह स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान को आत्मा का धर्म मानने पर भी उन दोनों में 'समवाय' सम्बन्ध नहीं है, जिससे दोनों में अत्यन्त भेद प्रतीत हो सके, अपितु 'तादात्म्य' सम्बन्ध माना गया है। समवायसम्बन्ध की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। एवञ्च भट्टपाद के मत से अज्ञानोपहित—(अज्ञान संवलित यानी ज्ञानाज्ञानरूप जिसे द्रव्य बोधरूप कह सकते हैं) चैतन्य ही अहंपदवाच्य आत्मा है।

शून्यमात्मा—शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत से सर्वाभावरूप शून्य ही आत्मा है। पूर्ववादी के कथनानुसार वह द्रव्यरूप तथा बोधरूप नहीं है॥ २३॥

पुत्र से लेकर शून्य तक सभी जड़ (अनात्मा) हैं, इनमें से किसी को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता, यह बता रहे हैं—

(पुत्रादीनामनात्मत्वप्रतिपादनम्)

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव। किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासक नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभाव प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः॥२४॥

सारबोधिनी— इदानीं पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामात्मत्वप्रतिपादकश्रुत्यादेः आभासत्वात् पूर्वपूर्वमतस्य उत्तरोत्तरमतबाध्यत्वाच्च दृश्यत्वं जडत्वादिहेतुसमूहैश्च अनात्मकत्वं प्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—एतेषामिति । पूर्ववादिभिः पुत्रादीनामात्मत्वसाधनार्थं प्रमाणरूपेण उपस्थापितानां श्रुति-युक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरमुपस्थापितैः श्रुति-युक्त्यनुभवाभासैः स्वयमेव परिहारः समभवत् इति पुत्रादिशून्यपर्यन्ते अनात्मत्वे सिद्धेऽपि 'कस्तर्हि अहम्प्रत्ययविषयः आत्मा '? इति सन्देहः स्थिर एव । अतस्तदपाकरणाय वक्ष्यमाणाभिः श्रुतिभिः प्रमाणीक्रियते यत् पुत्रादीनामात्मत्वसाधनार्थं याः श्रुतयः प्रमाणरूपेण वादिभिरुपस्थापिताः ताः सर्वा वक्ष्यमाणाभिः श्रुतिभिर्बाध्यन्ते । तेन पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामात्मत्वं कथमपि न सिद्धमर्हति, अपि तु अहं प्रत्ययविषयः आत्मा, तद्व्यतिरिक्त एव वर्तते ।

अपि च अनल्पाः श्रुतयः पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य सर्वस्य जडत्वात् तदपेक्षया व्यतिरिक्त एवायमात्मेति प्रतिपादयन्ति । जडेषु तु चैतन्याभासमात्रमेवेति सर्वेषु अनित्यत्वम् । अतो जडपदार्थप्रकाशकम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति विद्वदनुभूतं, श्रुतिसिद्धं, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावश्च प्रत्यक् चैतन्यमेव अहम्पदवाच्य आत्मेति सिद्ध्यति ।

ननु काश्चिच्छ्रुतयः पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, काश्चिच्च तेषामनात्मत्वं प्रतिपादयन्ति, उभयोरेव प्रामाण्यं श्रुतित्वाऽविशेषात् । ततः पुत्राद्यनात्मकत्वसाधकश्रुतीनामेव प्रामाण्यं, तदात्मकत्वसाधकश्रुतीनाञ्च अप्रामाण्यं कुतो नाभ्युपगम्यते ? विनिगमनाविरहात् इति चेत् उच्यते—श्रुतित्वावच्छिन्नायाः समस्तश्रुतेरेव स्वतः प्रामाण्याभ्युपगमात् सर्वाण्यपि श्रुतिवचनानि प्रमाणमित्यत्र नास्ति संशयः । तत्रैव बोध्यम् पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामात्मत्वप्रतिपादकश्रुतीनां 'अस्थूलम्, अमनाः अकर्ता' इत्यादिश्रुतिविरोधेन स्वार्थे तात्पर्यं न किमपि भवति, अपितु स्थूलारुन्धतीन्यायेन सूक्ष्म-सूक्ष्मतरवस्तुबोधने एव तासां तात्पर्यम् । अनेन प्रकारेण साक्षात् परम्परया वा तस्यैव अद्वितीयब्रह्मणः प्रतिपादकत्वात् सर्वासामपि श्रुतीनां प्रामाण्यमिति न कोऽपि विरोधः । सूक्ष्मातिसूक्ष्मः चेतनस्वरूपः श्रुतिप्रतिपादितः आत्मा स्वयं प्रकाशः । घटपटादिजडपदार्थस्तु स्वप्रकाशार्थं प्रकाशमपेक्षते । किन्तु आत्मप्रकाशनार्थं न प्रकाशान्तरापेक्षा

तस्य चेतनत्वात् 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः', 'आत्मैवास्य ज्योतिः', इत्यादि-श्रुतय आत्मनः स्वयंप्रकाशत्वे प्रमाणम् । स चैकोऽपि अनेकत्र वर्तमानः इत्यत्र 'एको देवः बहुधा सन्निविष्टः', इत्यादिश्रुतयः प्रमाणम् । एवञ्च देहेन्द्रिय-प्राणमनोबुद्ध्यादिविलक्षणः तदध्यक्षश्चात्मा भिन्न एव । स एव कर्मफलमुप-भुङ्क्ते । शुद्धचैतन्यन्तु एतद्व्यतिरिक्तम्, तेन सह अस्य चैतन्यस्य ऐक्यम् ।

आत्मचैतन्यं तावत् जाग्रत्-स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु अन्नमय-मनोमय-प्राणमय-विज्ञानमयानन्दमयकोशेषु उपलभ्यते, किन्तु शुद्धचैतन्यम् एतस्मात् सर्वथा परम् एवमेव स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरव्यष्ट्यभिमानिचैतन्यं (जीवः) विश्वः, तैजसः, प्राज्ञः इत्युच्यते । तथा तच्छरीरसमष्ट्यभिमानिचैतन्यं (ईश्वरः) वैश्वानरः (विराट्) सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भः) ईश्वरश्चोच्यते । न चायमात्मा अणुपरि-माणवान् सकलशरीरव्यापिचैतन्यामुपलंभप्रसंगात्, नापि मध्यमपरिमाणः सा-वयवत्वेन अनित्यत्वप्रसंगात्, किन्तु स्वतस्तावत् अखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् "स वा एष महानज आत्मा"—(बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिमाण एव । संसारित्वावस्थायामेव तस्य उपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्न-परिमाणं, तच्च यथोपाध्यनुरूपत्वादनियतम् ॥ २४ ॥

विमला—श्रुति-युक्ति तथा अनुभवों के आधार पर पूर्वोक्त अतिप्राकृत, चार्वाक आदिकों ने आत्मा के सम्बन्ध में अपने अपने विचारों को उपस्थित किया था, किन्तु उत्तरोत्तर उपस्थिति की गई श्रुतियों, युक्तियों तथा अनुभवों से उन सभी का खण्डन होता चला गया । उससे पुत्र से लेकर शून्य तक सब में अनात्मत्व सिद्ध हो चुका । तब "अहं" शब्दवाच्य आत्मा कौन है ? यह जिज्ञासा हो रही है । उसके समाधानार्थ बताया जा रहा है कि पूर्वोक्त अतिप्राकृत—चार्वाक आदि पूर्वपक्षियों ने पुत्रादिकों में आत्मत्व सिद्ध करने के लिये जिन श्रुति—युक्ति—अनुभवों को उपस्थित किया था उन सबका अब दी जाने वाली श्रुतियों से तथा युक्ति एवं अनुभवों से बाध हो जाता है। अतः पूर्वपक्षियों की प्रमाण रूप में दी हुई श्रुति, युक्ति तथा अनुभवों को केवल आभास मात्र समझना चाहिये, अर्थात् पुत्रादिकों में आत्मत्व सिद्ध करने की उनमें क्षमता नहीं है । 'अहं' शब्दवाच्य आत्मा तो उन सबसे

भिन्न ही है। एवच—पूर्वपक्षियों की दी हुई श्रुतियाँ, युक्तियाँ तथा अनुभव सिद्धान्तपक्ष के नहीं हैं अपितु वे सब श्रुत्याभास, युक्त्याभास, अनुभवाभास मात्र हैं। क्योंकि उनका वक्ष्यमाण श्रुति, युक्ति और अनुभवों से खण्डन (बाध) हो जाता है। उन्हीं श्रुति-युक्ति-अनुभवों को सिद्धान्तरूप में समझा जाता है' जिनका किसी से बाध नहीं हो पाता अर्थात् जो अकाट्य रहते हैं।

अब पूर्वपक्षियों के विचारों का खण्डन करते हुए वेदान्तसम्मत आत्मा का वास्तविक स्वरूप बताया जा रहा है। पूर्वपक्षियों के द्वारा दी गई प्रत्येक श्रुति को बाधक श्रुति को यहाँ उपस्थित कर रहे हैं—

पुत्रादिकों में आत्मत्व-साधक श्रुतियाँ	पुत्रादिकों में आत्मत्व-बाधक श्रुतियाँ
(१) 'आत्मा वै जायते पुत्रः'— (कौशी उ० २।११)	(१) 'कश्चिद् वीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत'–(कठ०उ० ४।१।२।१।१)
(२) 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (स्थूलोऽहं कृशोऽहम्)— [तैत्ति० उ० २।१।१]	(२) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'— [बृह० उ० ३।८।८]
(३) 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' (काणोऽहं, बधिरोऽहम्) [छां० उ० ५।१।७]	(३) 'अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्' —[मुण्ड० उ० १।१।६]
(४) [क] अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, [ख] 'अन्योन्तर आत्मा मनोमयः'— [तैत्ति० उ० २।३।१]	(४) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'— [मुण्ड० उ० २।१।२]
(५) 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (अहं कर्ता, अहं भोक्ता)— [तैत्ति० उ० २।४।१]	(५) 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता'—[श्वेता० उ० १।९]

(६) अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय:' 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय:'— [तैत्ति० उ० २।५।१]

(६) 'न चास्ति वेत्ता मम वित्सदाहम्', 'चिन्मात्रोऽहं सदाशिव:' —[केन० उ० २१] [कै० उ० १८]

(७) 'असदेवेदमग्र आसीत्' —[छां० उ० ६।२।१]

(७) 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' —[छां० उ० ६।२।१]

इन श्रुतियों के अतिरिक्त 'एष स आत्मा सर्वान्तर: अशरीरं शरीरेषु, प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मे मनो विदु:' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, न करोति न लिप्यते, सन्ततमेवं ततो विदु:'—इत्यादि प्रबल श्रुतियों के विरुद्ध पुत्राद्यात्मवादी श्रुतियाँ हैं। बाधक श्रुतियाँ प्रबल हैं, वे बताती हैं कि पुत्र, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि से अहंपदवाच्य आत्मा भिन्न है, क्योंकि पुत्र से लेकर शून्य तक सब जड़ हैं। ये सभी जड़ पदार्थ चैतन्य के द्वारा भासित (प्रकाशित) होते हैं, इस कारण इन्हें चैतन्य से आभास्य कहते हैं। ये सब अनित्य हैं—इस युक्ति से तथा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का प्रबल अनुभव विद्वानों को होता है, अत: इस प्रबल अनुभव के कारण और पुत्रात्मवादियों के द्वारा उपस्थित किये गये श्रुत्याभासों, युक्त्याभासों तथा अनुभवाभासों के बाधित हो जाने के कारण नित्य शुद्ध बुद्ध (चैतन्यस्वरूप) मुक्त तथा सत्यस्वभाववाला प्रत्यक् (आन्तरतम) चैतन्य ही आत्मा है, यह वेदान्त के विद्वानों का अनुभव है।

शंका—सभी श्रुतियों को चाहे वह साधक हों या बाधक हों—जब कि प्रमाण माना जाता है, तब बाधक श्रुतियों को ही प्रमाण क्यों माना जा रहा है ? साधक श्रुतियों को ही प्रमाण क्यों न माना जाय ?

समाधान—साधक-बाधक श्रुतियों के प्रामाण्य में कोई सन्देह नहीं है। तथापि बाधक श्रुतियों के विरुद्ध साधक श्रुतियाँ प्रतीत हो रही हैं, इसलिए विरोध-परिहारार्थ साधक श्रुतियों का स्वार्थ (प्रतीयमान अर्थ) में तात्पर्य नहीं है। स्थूलारुन्धतीन्याय से साधकश्रुतियों का तात्पर्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन में है, ऐसा मानने पर विरोध परिहार हो जाता है। असंख्य तारागणों में अतिसूक्ष्म अरुन्धती के तारे की पहिचान कराने के लिए देखने वाले

को सर्वप्रथम चन्द्रमा दिखाया जाता है और कहते हैं कि यही अरुन्धती का तारा है। तदनन्तर कहते हैं कि उस चन्द्रमा के समीप जो तारा है—वह अरुन्धती का तारा है। पश्चात् कहते हैं कि उस तारे के पास ही जो सात तारे हैं, उन्हें अरुन्धती कहते हैं। उसके अनन्तर उन सातों में से तीन को अरुन्धती कहते हैं, उसके पश्चात् उन तीनों में से बीचवाले (मध्यवर्ती) को अरुन्धती कहते हैं, फिर उनमें भी अत्यन्त सूक्ष्म तारे को अरुन्धती कहकर उसकी पहचान कराई जाती है। अरुन्धती का तारा बताने के लिए छह वाक्य कहे गये हैं—

(१) चन्द्रमा, (२) तारा, (३) सात तारे, (४) तीन तारे, (५) मध्यम तारा, (६) सूक्ष्म तारा। ये सब वाक्य परस्पर विरुद्धार्थक हैं, तथापि उन्हें अप्रामाणिक नहीं माना जाता। समझने वाले की बुद्धि के अनुसार सोपान-आरोहण-न्याय से आगे-आगे चलते (समझते) जानेपर पहले-पहले का त्याग किया गया है। किन्तु सभी का अरुन्धती के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में भी 'अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः, विज्ञानमयः, आनन्दमयः, आत्मा' इत्यादि वाक्य भी एक दूसरे के विरुद्ध ही है, किन्तु समझनेवाले की बुद्धि के अनुसार क्रमशः पहले-पहले का परित्याग करके अगले-अगले वाक्यों का तात्पर्य परम सूक्ष्म ब्रह्म (चैतन्य-आत्मा) के प्रतिपादन करने में ही है। अतः सभी श्रुतिवाक्यों का साक्षात् अथवा परम्परया अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही तात्पर्य होने से वे सभी श्रुतिवाक्य प्रामाणिक हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है। वह आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, चेतन स्वरूप है तथा स्वयंप्रकाश है। समस्त जडपदार्थ उसी चेतन से प्रकाशित होते हैं। उस चेतन आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह तो स्वयंप्रकाश[1] है। वह एक होता हुआ भी अनेक में विद्यमान है[2]।

---

१. "अत्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिः", "आत्मैवास्य ज्योतिः"

२. "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः", "उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा", "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव", "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"।

अतः यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि से भिन्न तथा उन सबका अध्यक्ष आत्मा है, जो कर्मफलों को भोगता है। तुरीय विशुद्ध चैतन्य, इस आत्मा से पृथक् है। उसके साथ इस जीव चैतन्य (आत्मा) की अभिन्नता है। यह जीवात्मा (आत्म-चैतन्य) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पाँचों कोशों में उपलब्ध होता है, परन्तु शुद्धचैतन्य इन सबसे परे है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर के व्यष्टि अभिमानी चैतन्य को वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर कहते हैं किन्तु नित्य-शुद्ध-तुरीय-चैतन्य इन सबसे भिन्न है ॥ २४ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रत्यक्—प्रत्यक् सबसे भीतर, अतः पुत्रादि बाह्य तत्त्वों को आत्मा नहीं कह सकते।

अस्थूलः—कहने से शरीर आदि को भी आत्मा नहीं कह सकते।

अप्राणः—कहने से प्राण को भी आत्मा नहीं कह सकते।

चिन्मात्रम्—आत्मा केवल 'चित्' प्रकाश अथवा ज्ञानरूप होने से भाट्ट-मीमांसकों के 'प्रकाशाप्रकाश सम्वलित आत्मा है' इस मत का खण्डन हो जाता है ॥ २४ ॥

अध्यारोपापवाद-न्याय के 'अध्यारोप' को बता चुकने पर अब 'अपवाद' के प्रकार को बता रहे हैं।

(अपवादः)

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तु-विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्--

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः" इति ॥

तथाहि—एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं

भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्यतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति । एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति । एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति । एतदज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ॥ २५ ॥

सारबोधिनी—मिथ्याप्रपञ्चस्य सामान्यतः विशेषतश्च आत्मवस्तुनि अध्यारोपप्रकारं सविस्तरमभिधाय अधुना तदपवादप्रकारं निरूपयितुमारभते—अपवाद इति । कार्यस्य कारणमात्रावशेषणमपवादः । असङ्गोदासीने परमात्मवस्तुनि तद्विवर्तभूताऽज्ञानादिमिथ्याप्रपञ्चस्य चैतन्यवस्तुमात्रावशेषतया अवनमेव अपवादः । तत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह—रज्जुविवर्तस्येति । तथाहि—रज्जौ सर्पस्य, शुक्तौ रजतस्य वा प्रतीतौ अर्थात् रज्जुस्वरूपाऽपरित्यागेन सर्पाकारेण, शुक्तिस्वरूपापरित्यागेन रजताकारेण भासमानस्य वा रज्जुविवर्तस्य शुक्तिविवर्तस्य वा अपवादः विनाशः, अर्थात् अधिष्ठानभूतरज्जुमात्रतया शुक्तिमात्रतया वा यथा अवस्थानं भवति, तथा चिद्विवर्तस्य अज्ञानादिप्रपञ्चस्य अपवादो (नाशो) नाम चिन्मात्रत्वेन अवस्थानमित्यर्थः । यथास्वरूपेण (यथार्थरूपेण) अवस्थितस्य वस्तुनः अन्यथाभावो द्विधा भवति । परिणामभावो विवर्तभावश्चेति । तत्र परिणामभावो नाम वस्तुनो यथार्थतः स्वस्वरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरापत्तिः । यथा दुग्धमेव स्व-स्वरूपं परित्यज्य दध्याकारेण परिणमते । विवर्तभावस्तु वस्तुनः स्व-स्वरूपाऽपरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्या प्रतीतिः यथा रज्जुः स्वस्वरूपाऽपरित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते । अत्र वेदान्तसिद्धान्ते ब्रह्मणि प्रपञ्चभानस्य परिणामभावो न स्वीक्रियते दुग्धादिवत् ब्रह्मणो विकारित्वप्रसंगात् अनित्यत्वादिदोषापत्तेः । विवर्तभावाङ्गीकारे तु नायं दोषः, ब्रह्मणि

प्रपञ्चभानस्य मिथ्यात्वेन विकारित्वाभावात् । तथा चोक्तम्—"अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः ।" तस्मात् चिद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य चिन्मात्रावस्थानमेवापवादः ॥ २५ ॥

परिणामभावो नाम कस्यापि वस्तुनः स्वीयं वास्तविकं रूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरग्रहणम् । यथा—दुग्धस्य दधिरूपः परिणामः । विवर्तभावो नाम—कस्यापि वस्तुनः स्वीयं वास्तविकं रूपमपरित्यज्यैव अन्यवस्तुरूपेण मिथ्या प्रतीतिः । यथा रज्जौ सर्पस्य मिथ्या प्रतीतिः, शुक्तौ रजतस्य मिथ्या प्रतीतिर्वा । तथा चोक्तम्—सत्त्वतोऽन्यथा प्रथा इत्यत्र ।

समग्रस्य सांसारिकप्रपञ्चस्य स्व-स्वकारणे लयप्रकारः यदाऽत्रगतो भवति तदा पूर्वोक्तमिथ्याप्रतीतिर्विनश्यति, ब्रह्ममात्रं चावशिष्टं भवति । अयं लयप्रकारः तथाहीत्यादिग्रन्थेन प्रदर्श्यते एतच्चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं सुखदुःखादिभोगायतनं, अन्न-पानादिकं तद्भोग्यरूपम्, भूरादिचतुर्दशलोकसहितं भुवनत्रयं तदाश्रयभूतम्, तदाधारभूतमेतत्सर्वं ब्रह्माण्डञ्च स्वकारणभूतेषु पञ्चीकृतमहाभूतेषु विलीयते । तदनन्तरं शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतमहाभूतानि सप्तदशावयवं सर्वं सूक्ष्मशरीरञ्च स्वकारणभूतेषु अपञ्चीकृतमहाभूतेषु विलीयन्ते । ततः सत्त्वादिगुणसहितानि तानि सर्वाणि अपञ्चीकृतमहाभूतानि स्वकारणभूते अज्ञानोपहितचैतन्ये विलीयन्ते । तच्चाज्ञानं तदुपहितं सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं चैतन्यमीश्वरादि च एतत्स्वाधारभूते अनुपहिते तुरीयचैतन्ये ब्रह्मणि विलीयते । एवं सर्वं स्वस्मिन् समावेश्य अन्ते चैतन्यमेव अवशिष्यते । एवञ्च स्थूल-सूक्ष्म-कारण-प्रपञ्चानामुत्पत्तिर्विपरीत्येन तत्तत्कारणरूपेण अवस्थानमेव अपवादः ॥ २६ ॥

विमला—अध्यारोप के स्वरूप तथा उसकी पद्धति का निरूपण करने के बाद अब अपवाद का स्वरूप तथा उसकी पद्धति को बता रहे हैं। किसी उपस्थित (दृश्यमान) सत्य वस्तु में भ्रम से अनुपस्थित असत्य वस्तु का आरोप (अध्यारोप) किया जाता है, तब उस भ्रम को हटाकर उपस्थित (सत्य) वस्तु मात्र का ज्ञान कराना ही अपवाद है। जैसे—रज्जु में सर्प की अथवा शुक्ति में रजत की भ्रमवश मिथ्या प्रतीति होने पर उस मिथ्या प्रतीति को

दूर कर रज्जु या शुक्ति (सत्य वस्तु) का ज्ञान करा देना ही अपवाद है। अर्थात् रज्जु का विवर्त (भ्रमवश रज्जु में दिखाई देने वाला) सर्प रज्जुमात्र ही है, उससे पृथक् नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्मरूप सत्यवस्तु में भ्रमवश अज्ञानादि प्रपञ्च की जो मिथ्या प्रतीति है उसे हटाकर ब्रह्मरूप सत्य वस्तु का ज्ञान करा देना ही अपवाद है। अर्थात् ब्रह्मरूप वस्तु के विवर्त (वस्तुरूप-ब्रह्म में भ्रम से प्रतीत होने वाला अवस्तुरूप) अज्ञानादि प्रपञ्च का वस्तु (ब्रह्म) मात्र अवशेष रहना ही अपवाद है। यही बात 'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा' इस पद्य के द्वारा बताई गई है—

किसी वस्तु के तात्त्विक (वास्तविक) अन्यथा भाव (रूपान्तर) को विकार (परिणाम) कहते हैं और किसी वस्तु के अतात्त्विक अन्यथाभाव (रूपान्तर) को विवर्त कहते हैं।

यह प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। उसे ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म में अनित्यत्वादि दोष प्रसक्त होंगे। जब प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं तब ब्रह्म में अनित्यत्वादि दोष नहीं आ पाते। क्योंकि ब्रह्मरूप सत्यवस्तु में प्रपञ्च की प्रतीति मिथ्या हो रही है। इस मिथ्या प्रतीति को दूर कर ब्रह्म मात्र का ज्ञान होना ही अपवाद है। अपने-अपने कारणों में इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के लीन होने का ज्ञान हो जाने पर उक्त मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है और अन्त में केवल एक ब्रह्म ही शेष बचा रहता है। प्रपञ्च के विलीनीकरण का प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है—सुख-दुःखादि भोगों के भोगने वाले चतुर्विध स्थूलशरीर उनके भोग्य समग्र अन्न-पानादि, उनके आश्रयभूत भूरादि चतुर्दश लोक, तीनों भुवन और उनका आधारभूत ब्रह्माण्ड-इन सबका अपने कारणभूत पञ्चीकृतमहाभूतों में लय हो जाता है। उसके बाद शब्दादि विषयों के सहित समस्त पञ्चीकृत तथा समस्त सप्तदशावयवात्मक सूक्ष्म-शरीरों का अपञ्चीकृत महाभूतों में लय हो जाता है। तदनन्तर सत्त्वादिगुणों के सहित वे समस्त अपञ्चीकृतमहाभूत अपने कारण अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन हो जाते हैं और तन्मात्र शेष रह जाते हैं। यह अज्ञान तथा अज्ञानोपहित सर्वज्ञ-त्वादिगुणविशिष्ट चैतन्य ईश्वर आदि का अपने आधारभूत अनुपहित तुरीय ब्रह्म

चैतन्य में लय हो जाता है[1] ॥ २५ ॥

अध्यारोप---अपवाद के फलस्वरूप तत्-त्वम्-पदार्थ के शोधनप्रकार का वर्णन करते हैं—

(तत्-त्वम्पदार्थशोधनम्)

(आभ्यःमध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति । तथाहि---अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत् त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति । एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति । अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत् त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति । एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनूपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति ॥ २६ ॥

(सारबोधिनी—एवमध्यारोपापवादाभ्यां जगत् तत्कारणं ब्रह्म च सम्यक्तया निरूपितम् । तेन निरूपणेन श्वेतकेतुम्प्रति महर्षिणा उद्दालकेन उक्तयोः

१. उपर्युक्त उत्पत्ति लय को महाभारतीय पद्य से मिलाइये—

"जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते ।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते ॥"

[म० भा० शा० प० १२८, ९३—९५]

"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः"

(कठ० उ० ३।११)

'तत्त्वमसि' इति वाक्यान्तर्गतयोः "तत्–त्वम्"पदयोः परिशुद्धिरपि भवति। तथाहि—(१) अज्ञानादिसमष्टिः अर्थात् अज्ञान-समष्टिः, स्थूलशरीरसमष्टिः सूक्ष्मशरीरसमष्टिश्च, (२) तदुपहितं चैतन्यं (सर्वज्ञत्वादिविशिष्टेश्वरसूत्रात्मवैश्वानरचैतन्यं) तथा (३) एतदनुपहितचैतन्यं (तुरीयं ब्रह्मचैतन्यं)—एतत् त्रयं तप्तायःपिण्डवत् एकत्वेन (एकाकारेण) यदा अवभासते अर्थात् एकाकारेण अवभासमानं सत् एतत् त्रयं तत्त्वमसीतिमहावाक्यान्तर्गतस्य तत्पदस्य वाच्यार्थो भवति। तथा अज्ञानाद्यवच्छिन्नस्य ईश्वरादिचैतन्यस्य आधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं, तत् पूर्वोक्तात् अज्ञानाद्यवच्छिन्नेश्वरादिचैतन्यात् भिन्नतया यदा अवभासते, तदा 'तत्'पदस्य लक्ष्यार्थो भवति। एवमेव (१) अज्ञानादिव्यष्टिः (२) तदवच्छिन्नं प्राज्ञादिचैतन्यं (३) तदनुपहितं चैतन्यञ्च इत्येतत् त्रयं तप्तायः–पिण्डवत् एकाकारेण (अभिन्नत्वेन) यदा अवभासते तदा तत्त्वमसीतिमहावाक्यान्तर्गतस्य 'त्वम्'पदस्य वाच्यार्थो भवति। तथा अज्ञानादिव्यष्टिः, तदवच्छिन्नं-प्राज्ञादिचैतन्यम् एवं तदाधारभूतमनुपहितं तुरीयचैतन्यञ्चेत्येतत् त्रयं यदा भिन्नत्वेन अवभासते तदा तच्चैतन्यं 'त्वं'पदस्य लक्ष्यार्थो भवति। अनेन प्रकारेण अनुपहितं (विशुद्धं) चैतन्यं भिन्नभिन्नावस्थायां 'तत्–त्वम्' इत्युभयोः पदयोः वाच्यार्थोऽपि भवति, लक्ष्यार्थोऽपि भवति ॥ २६ ॥

विमला—अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा यह बताया गया है कि समस्त नामरूपात्मक जगत्, 'ब्रह्म' है। एवं 'ब्रह्म' ही यह नामरूपात्मक जगत् है। इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद के द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' एवं 'त्वम्' इन दोनों पदों के अर्थों का स्पष्टीकरण (शोधन) भी हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु को 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का उपदेश दिया है। इस महावाक्य में 'तत्' (वह=परब्रह्म शुद्ध चैतन्य) और 'त्वम्' (तू=व्यष्टिभूत अज्ञान से उपहित चैतन्य) दोनों पदों का तात्पर्य स्पष्टतया समझ में आ जाता है। निष्कर्ष यह है कि अज्ञान (कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीर) की समष्टि और उससे उपहितचैतन्य (सर्वज्ञत्वादिविशिष्टईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर-चैतन्य), तथा इनका आधारभूत अनुपहित चैतन्य

(तुरीय विशुद्धचैतन्य) इन तीनों का तप्तायःपिण्ड (तपे हुए लोहे के गोले) के समान एकाकार प्रतीत होना 'तत्' का वाच्य अर्थ है। तथा (अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर-चैतन्य के आधारभूत) अनुपहित चैतन्य का, अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर-चैतन्य से पृथक् रूप में अवभासित होना अर्थात् तीनों की अलग-अलग प्रतीति होना 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।

उसी प्रकार अज्ञान अर्थात् कारण, सूक्ष्म, स्थूल, शरीरों की व्यष्टि, तथा प्राज्ञ, तैजस, विश्वचैतन्य और अनुपहित विशुद्ध चैतन्य-तीनों का तप्तायःपिण्ड के समान एकाकार भासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। और व्यष्टिभूत अज्ञान (कारण, सूक्ष्म, स्थूल-शरीर), तदुपहित जीव-चैतन्य, सबका आधारभूत अनुपहित तुरीय विशुद्ध चैतन्य—उन सबका अलग-अलग भिन्न रूप में ज्ञान होना 'त्वम्' का लक्ष्यार्थ है॥ २६ ॥

व्युत्पत्ति—वाच्यार्थ—शब्द की तीन (अभिधा-लक्षणा-व्यंजना)—शक्तियाँ होती हैं। अभिधा शक्ति से जो अर्थ बताया जाता है, उसे वाच्यार्थ कहते हैं। जैसे—लोहे के गोले तथा जलाने में हेतुभूत अग्नि इन दोनों में अभेद (दोनों को एक) मानकर 'लोह-पिण्डो दहति' लोहे का गोला-जला रहा है—इस वाक्य को कहा जाता है, तब लोहे के गोले का तथा जलाने के साधनभूत अग्नि दोनों का ज्ञान अभिधा शक्ति से होता है, क्योंकि उस समय बोद्धा (सुनने वाले) को लोहे के गोले तथा दाह के हेतुभूत आग दोनों में अभेद (अभिन्नता) का ज्ञान रहता है अर्थात् दोनों को वह एकाकार समझता है। उसी तरह प्रस्तुत प्रसंग में अज्ञानादिसमष्टि, तदुपहित-चैतन्य और अनुपहित चैतन्य इन तीनों की जब अभेद प्रतीति होती है तब उस अनुपहित चैतन्य को 'तत्' पद का वाच्यार्थ कहते हैं।

लक्ष्यार्थ—'लोहे का गोला जलाता है' इस वाक्य के सुनने पर लोहे के गोले की दाहकता जब अनुपपन्न (असम्भव) ज्ञात (मालूम) होती है तब बोद्धा (समझने वाला-सुनने वाला) यह समझता है कि उसमें (लोहे में) वर्तमान आग (अग्नि) ही जलाने में कारण है। उस समय लक्षणाशक्ति के द्वारा

उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि लोहे के गोले में व्याप्त (संक्रान्त) हुई आग जला रहा है। उसी प्रकार आधारभूत अनुपहित चैतन्य, जब उपाधि तथा उपहित चैतन्य से भिन्न (अलग) प्रतीत हो तब उस अनुपहित चैतन्य को 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ कहते हैं। उसी प्रकार 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ को समझ लेना चाहिये ॥ २६ ॥

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ का निरूपण करते हैं—

(महावाक्यार्थः)

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते । इदं तत्त्वमसीतिवाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति । सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति । तदुक्तम्---

"सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥" इति ।

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन्वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन्पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः । तथा च तत्त्वमसीतिवाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः । विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्य-

भावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वाविरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥ २७ ॥

सारबोधिनी—वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणमिति कृत्वा 'तत्त्वमसि' इत्यस्य महावाक्यस्य अर्थं प्रतिपादयितुमिच्छया ग्रन्थकारः प्रथमतः 'तत्त्वमसि' इति महावाक्यान्तर्गतं 'तत्-त्वम्'पदार्थं सविस्तरं निरूप्य इदानीं 'तत्त्वमसि' इति महावाक्यार्थं निरूपयितुमाह—अथेति। अत्रेयं जिज्ञासा उत्पद्यते, यत् जीवस्तावत् अल्पज्ञः ईश्वरश्च सर्वज्ञः। अतः द्वावपि परस्परमत्यन्तं भिन्नौ (विरुद्धौ), तदा उभयोरैक्यप्रतिपादकस्य 'तत्त्वमसी' तिमहावाक्यस्यापि विरुद्धार्थकत्वात्, कथमिव तत् महावाक्यं अखण्डैकरसस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकं भवेदित्यत आह—इदमिति। यद्यपि तत्त्वमसीति महावाक्यं अभिधया साक्षात् अखण्डैकरसस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकं न भवति तथापि लक्षणया त्रिभिः सम्बन्धैः अखण्डार्थ-प्रतिपादकं भवति। त्रयाणां सम्बन्धानां स्वरूपमाह—सम्बन्धेति। (१) पदयोः (तत्-त्वंपदयोः) सामानाधिकरण्यम्, (२) पदार्थयोः (परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्ययोः)—विशेषण-विशेष्यभावः। (३) परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूपविरुद्धांशस्य परित्यागपूर्वकं 'तत्त्वं'पदलक्ष्यार्थरूपेण अविरुद्धचैतन्येन सह (तत्त्वं) पदयोः तदर्थयोर्वा लक्ष्यलक्षणभावः।

'तत्'पदस्य मुख्योऽर्थः—परोक्षत्व-सर्वज्ञत्वादिधर्मविशिष्टं चैतन्यम्। 'त्वम्'पदस्य मुख्योऽर्थः—अपरोक्षत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादिधर्मविशिष्टं चैतन्यम्।

इमौ द्वावपि अर्थौ परस्परं विरुद्धौ अर्थात् उभयोरपि चैतन्ययोः परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वादिधर्मौ मिथो विरुद्धौ स्तः। लक्षणया अर्थबोधनावसरे 'तत्' पदं, 'त्वम्' पदञ्च विरुद्धधर्मपरित्यागपूर्वकं अथवा तत्पदार्थः, त्वम्पदार्थौ वा विरुद्धधर्मपरित्यागपूर्वकं अखण्डार्थमेव बोधयतः। अतः तत्पदं, त्वम्पदं च लक्षणरूपम्, अखण्डचैतन्यं च ताभ्यां पदाभ्यां लक्षणया बोध्यते, अतः अखण्डचैतन्यं लक्ष्यरूपम्। इत्थं प्रतिपादिते विभागे [पदस्य, अर्थस्य, प्रत्यगात्मनश्च सम्बन्धत्रयसद्भावे] नैष्कर्म्यसिद्धिवचनं संवादयति—तदुक्तमिति।

"सामानाधिकरण्यञ्च विशेषण-विशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥"

—(नैष्कर्म्यसि. ३।३)

एतत् तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेण यथा अखण्डार्थम्प्रतिपादयति, तत् 'सोऽयं देवदत्तः' इति लौकिकोदाहरणेन सह अत्र प्रदर्शयति। पदयोः सामानाधिकरण्यं यथा—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोः एकस्मिन् अर्थे प्रवृत्तिः—सामानाधिकरण्यम्। तच्च सामानाधिकरण्यं 'सोऽयं देवदत्तः' अस्मिन् लौकिकवाक्ये इत्थं घटते—अत्र सः, अयम्, देवदत्तः इति त्रीणि पदानि। तत्र 'सः' शब्दस्य (तत्पदस्य) प्रवृत्ति-निमित्तं (प्रवृत्तौ हेतुभूतं) तद्देश-तत्कालवैशिष्ट्यमस्ति। 'अयम्' शब्दस्य (इदं पदस्य) प्रवृत्तिनिमित्तं (प्रवृत्तौ हेतुभूत) एतद्देशैतत्कालवैशिष्ट्यमस्ति। अर्थात् 'स' शब्दस्य तद्देश-तत्कालविशिष्टरूपेऽर्थे प्रवृत्तिः। 'अयं'-शब्दस्य च एतद्देशैतत्कालविशिष्टरूपेऽर्थे प्रवृत्तिः। तथा च भिन्न-प्रवृत्तिनिमित्तयोः 'सोऽयंशब्दयोः' एकस्मिन् देवदत्तपिण्डे तात्पर्य-सम्बन्धः सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। तथैव 'तत्त्वमसी'ति वाक्येऽपि 'परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिवैशिष्ट्य' तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। 'अपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिवैशिष्ट्य' त्वम्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः 'तत्-त्वम्'पदयोः एकस्मिन् चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमित्यर्थः।

विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धस्वरूपमाह—विशेषणेति। विशेषणं व्यावर्तकं भवति। विशेष्य व्यावर्त्यं भवति। तथाच 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये एव अयंशब्दवाच्यः योऽसौ एतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टो देवदत्तपिण्डोऽयम्, 'स इति'

तच्छब्दवाच्यात् तत्कालतद्देशविशिष्टदेवदत्तपिण्डात् भिन्नो न इति; यदा प्रतीयते, तदा तच्छब्दार्थस्य अयंशब्दवाच्यार्थनिष्ठ-भेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम् । अयंशब्दार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद् विशेष्यत्वम् । तथैव स इति तच्छब्दवाच्यः तत्कालतद्देशविशिष्टः देवदत्तपिण्डः, सोऽयमिति इदंशब्दवाच्यात् एतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टात् अस्मात् देवदत्तपिण्डात् न भिद्यते इति यदा ज्ञायते, तदा अयंशब्दवाच्यार्थस्य तच्छब्दार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वं, तच्छब्दार्थस्य व्यावर्त्यत्वादविशेष्यत्वम् । तथा च 'अयमेव सः, स एवायम्' इति अन्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया 'सोऽयंशब्दार्थयोः' परस्परं विशेषण-विशेष्यभावो भवति । उक्तं विशेषणविशेष्यभावं दार्ष्टान्तिके तत्त्वमसीति वाक्ये योजयति–तथाऽत्रापीति । अत्रापि 'तत्त्वमसि' वाक्येऽपि 'त्वम्'पदवाच्यं यत् अपरोक्षत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यं, तत् तत्पदवाच्यात् सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यात् न भिद्यते इति यदा ज्ञायते, तदा तच्छब्दार्थस्य त्वम्पदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वं, त्वम्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद् विशेष्यत्वम् । तथैव तत्पदवाच्यं यत् सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यं, तत् त्वम्पदवाच्यात् किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यात् न भिद्यते इति यदा प्रतीयते तदा त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकत्वेन विशेषणत्वं, तत्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वात् विशेष्यत्वम् । तथाच 'त्वं तत् असि' 'तत् त्वम् असि' इति तत्-त्वम्पदार्थयोः परस्परं भेदव्यावर्तकत्वेन परस्पर विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धो भवति ।

अवसरप्राप्तं लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्धस्वरूपं निरूपयितुमाह—लक्ष्येति । असाधारणधर्मप्रतिपादकं वाक्यं लक्षणवाक्यम्, तत्प्रतिपाद्यमवशिष्टं वस्तु लक्ष्यम् । तथा च 'सोऽयं देवदत्तः' अस्मिन्नेव वाक्ये सोऽयंशब्दयोः तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालतद्देशविशिष्टैतत्कालैतद्देशविशिष्टत्वपरिहारेण अविरुद्धदेवदत्तत्वविशिष्टदेवदत्तपिण्डेन सह देवदत्तविशिष्टदेवदत्तवाचकशब्दस्य लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्धो भवति । अर्थात् विरुद्धांशपरित्यागेन सोऽयंशब्दयोः तदर्थयोर्वा अविरुद्धदेवदत्तपिण्डेन सह लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्धः । अयमभिप्रायः–अस्मिन् वाक्ये तच्छब्दस्य तत्कालतद्देशविशिष्टरूपः अर्थः, इदंशब्दस्य च एतत्कालैतद्देशविशिष्टरूपोऽर्थः इत्यनयोर्विरुद्धार्थकत्वेऽपि तत्कालतद्देशैतत्कालैतद्देशरूपविरुद्धांशपरि

त्यागेन अविरुद्धदेवदत्तपिण्डरूपैकार्थावबोधकतया सोऽयं पदयोर्लक्षणत्वम्, देवदत्तपिण्डस्य च लक्ष्यत्वम् । अनेनैव प्रकारेण तत्त्वमसीत्यत्रापि तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिरूपविरुद्धांशपरित्यागेन अविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्य-लक्षणभावः सम्बन्धो भवति । परित्यक्तविरुद्धांशयोः तत्त्वंपदयोः पदार्थयोर्वा लक्षणत्वम्, अखण्डचैतन्यस्य च लक्ष्यत्वम् एवमत्र विरुद्धांशपरित्यागेन यत् अविरुद्धचैतन्यावबोधकत्वं तत् केवलं संज्ञाभेदेन भागलक्षणा (भागत्यागलक्षणा) जहदजहल्लक्षणा वोच्यते । अत्र केवलं संज्ञाभेदः, न वस्तुभेदः ॥ २७ ॥

विमला—अब तत्त्वमसि—वही तुम हो--(छां० ३-६।८।७) इस महावाक्य के अर्थ को बता रहे हैं । वाक्यार्थ के ज्ञान में पदार्थ-ज्ञान (पद के अर्थ का ज्ञान) को कारण (हेतु) माना जाता है । क्योंकि किसी भी वाक्य का अर्थ जानना हो तो उस वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ जानना आवश्यक होता है । इसलिए अभी तक 'तत् त्वम् असि' इस वाक्य में प्रयुक्त किये गये 'तत्' और 'त्वम्' इन दो पदों के अर्थ को बताया गया था । अब 'तत्त्वमसि' इस सम्पूर्ण महावाक्य के अर्थ को बताया जा रहा है । यहाँ यह प्रश्न मन में उपस्थित होता है कि 'त्वम्' पद का अर्थ तो अल्पज्ञ जीव है और 'तत्' पद का अर्थ सर्वज्ञ ईश्वर है । इन दोनों में अत्यन्त भिन्नता स्पष्ट हो रही है । अतः इन दोनों की एकता का प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य भी परस्पर विरुद्धार्थक होने से वह अखण्डैकरस ब्रह्म का प्रतिपादन कैसे कर सकेगा ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए 'इदं तत्त्वमसि' इत्यादि ग्रन्थ को उपस्थित किया जा रहा है । 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य अखण्डब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादन नहीं कर रहा है, किन्तु लक्षणाशक्ति के द्वारा तीन सम्बन्धों के माध्यम (सहायता) से अखण्ड अर्थ (निरुपाधि ब्रह्म) का बोधन (प्रतिपादन) करता है । ये तीन सम्बन्ध इस प्रकार है—

(१) दोनों (तत् और त्वम्) पदों का समानाधिकरण्य सम्बन्ध ।

(२) दोनों (तत् और त्वम्) पदों के अर्थों ('तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट

चैतन्य) में परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध । (अर्थात् दोनों अर्थों में परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव का होना) ।

(३) परोक्षत्वविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वविशिष्टत्वरूप अर्थों में परोक्षत्व और अपरोक्षत्वरूप जो परस्पर विरुद्ध अंश है उससे रहित (विरुद्ध अंश का त्याग=छोड़कर) तत् और त्वम् इन दो पदों का या उनके अर्थों का (पदार्थों का) अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध । अर्थात् प्रत्यगात्म (जीव चैतन्य) तथा शुद्ध चैतन्य के बोधक त्वम् और तत् पदों का अखण्ड चैतन्य (तुरीय अनुपहित शुद्ध चैतन्य ब्रह्म) के साथ लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध है । परोक्षत्व-सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट चैतन्य के लक्षण (बोध कराने वाले=लक्षक) तत् शब्द (पद), तथा अपरोक्षत्व-किञ्चिज्ज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट चैतन्य के लक्षण (बोध कराने वाले=लक्षक) त्वम् शब्द (पद) में जो परोक्षत्व-अपरोक्षत्व तथा सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व (किञ्चिज्ज्ञत्व) आदि विरुद्ध अंश है, उससे रहित ये (तत्-त्वम्) पद या पदार्थ दोनों ही अखण्ड चैतन्य के लक्षण हैं और अखण्ड चैतन्य उनका लक्ष्य है । इस प्रकार उक्त तीनों सम्बन्धों की सहायता से 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य उसी एक अखण्ड अर्थ (ब्रह्म) का प्रतिपादन करता है । इसी को सुरेश्वराचार्य ने अपनी नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है । "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के पदों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध, उन पदों के वाच्य अर्थों में विशेषण-विशेष्य भाव-सम्बन्ध, तथा उन पदों के वाच्य अर्थों एवं प्रत्यगात्मा में लक्ष्य-लक्षण-भाव-सम्बन्ध है । (नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३) । यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य तीनों सम्बन्धों के द्वारा अखण्ड अर्थ का प्रतिपादन कैसे करता है ? इस बात को एक लौकिक दृष्टान्त देकर बता रहे हैं । जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' ।

समानाधिकरण्य सम्बन्ध— समान विभक्ति वाले किन्तु भिन्नार्थक दो पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यबोध कराने वाले सम्बन्ध को समानाधिकरण्य सम्बन्ध कहते हैं । 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत् शब्द और इदम् शब्द दोनों प्रथमा विभक्ति में हैं । अतः दोनों शब्द (पद) समानविभक्तिवाले हैं ।

'तत्' शब्द का 'तत्काल-तद्देश-विशिष्ट' अर्थ है। और 'अयं' शब्द का 'एतत्काल-एतद्देश-विशिष्ट' अर्थ है। इन दोनों पदों (शब्दों) का देवदत्त व्यक्ति रूप एक ही अर्थ प्रकट करने में तात्पर्य है। इसलिए इस तात्पर्य का बोधक समानाधिकरण्य सम्बन्ध हुआ। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पद प्रथमा विभक्ति में हैं अतः दोनों पद समान विभक्ति वाले हैं। 'तत्' पद का 'परोक्षत्व-सर्वज्ञत्व-विशिष्ट' अर्थ है, और 'त्वम्' पद का 'अपरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट' अर्थ है और इन दोनों पदों का एक चैतन्यरूप अर्थ के बताने में ही तात्पर्य है। अतः इस तात्पर्य को बताने वाला सम्बन्ध ही सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध—जो शब्द अपने वाच्यार्थ रूप विशेष्य को दूसरे शब्दों के वाच्यार्थों से व्यावृत्त (पृथक्) करता है, उसे विशेषण कहते हैं। और जो शब्दार्थ व्यावृत्त होता है, उसे विशेष्य कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'अयं' शब्द का वाच्यार्थ 'एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट देवदत्त' है, वह 'सः' शब्द के वाच्यार्थ 'तत्काल—तद्देशविशिष्ट देवदत्त' से भिन्न नहीं है। यह ज्ञान जब होता है तब सः (तत्) शब्द, अयं (इदम्) शब्द का विशेषण है। और अयं शब्द, सः शब्द का विशेष्य है। इस कारण यह वही देवदत्त है ऐसा ज्ञान हो पाता है। और तत्काल-तद्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है।

उसी प्रकार 'सः' (तत्) शब्द का वाच्यार्थ तत्काल-तद्देशविशिष्ट जो देवदत्त है, वह अयं (इदं) शब्द के वाच्यार्थ—एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है अर्थात् 'यही वह' देवदत्त है—यह अर्थ जब ज्ञात होता है तब 'अयं' शब्द 'सः' शब्द का विशेषण है और 'सः' शब्द उसका विशेष्य है। अतः परस्पर भेद व्यावर्तक होने से 'स एवायम्' 'अयमेव सः' इस प्रकार से सः और अयम् दोनों एक दूसरे के विशेषण-विशेष्य हो जाते हैं और इस विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध के द्वारा 'देवदत्त' रूप एक ही व्यक्ति (अर्थ) को प्रकट करते हैं। ठीक उसी तरह 'तत्त्वमसि' महावाक्य

में 'त्वम्' पद से वाच्य जो अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) किञ्चिज्ज्ञत्व (अल्पज्ञत्व) आदि से विशिष्ट जो चैतन्य है, वह 'तत्' पद के वाच्य सर्वज्ञत्व-परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है—यह बोध जब होता है तब 'तत्' शब्दार्थ त्वं पदार्थनिष्ठ-भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण है और 'त्वम्' शब्दार्थ, व्यावर्त्य होने से विशेष्य है। उसी तरह 'तत्' शब्दवाच्य जो सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट चैतन्य है; वह, 'त्वम्' शब्दवाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य से भिन्न नहीं है, यह ज्ञान जब होता है तब त्वम् पदार्थ, तत्पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण है और तत्पदार्थ व्यावर्तक होने से विशेष्य है। इस विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध के द्वारा 'तत्' और 'त्वं' ये दोनों पद चैतन्यरूप एक ही अर्थ के बोधक होने के कारण वही तू है और तू ही वह है यह ज्ञान कराते हैं।

लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध—'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत्काल तद्देशविशिष्ट तथा एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट इस प्रकार परस्पर विरुद्ध इन दोनों अर्थों को त्यागकर सः और अयं शब्द, अविरुद्ध प्रतीत होने वाले देवदत्तत्व-विशिष्ट देवदत्तपिण्ड (व्यक्ति) के साथ-साथ देवदत्तत्वविशिष्ट देवदत्त शब्द को लक्षित करते हैं। इसलिए इनका (शब्द और अर्थ दोनों का) लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध है। 'सः' शब्द का तत्काल-तद्देशविशिष्टरूप अर्थ है, और 'अयं' शब्द का एतत्काल-एतद्देशविशिष्ट अर्थ है—इस प्रकार ये दोनों विरुद्धार्थक हैं, क्योंकि जो तत्काल-तद्देशविशिष्ट है, वह एतत्काल-एतद्देश-विशिष्ट कैसे हो सकता है? तथापि ये दोनों देवदत्तरूप एक ही व्यक्ति का बोध कराते हैं। इसलिए देवदत्तरूप व्यक्ति के (एक अर्थ के) बोध कराने में इन दोनों का आपस में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि 'सः' शब्द भी देवदत्त का बोधक है और 'अयं' शब्द भी देवदत्त का ही बोधक है इसलिए तत्काल तद्देश एवं एतत्काल-एतद्देशरूप विरुद्धांश का त्याग कर देने से दोनों पद देवदत्तरूप एक ही अर्थ के बोधक रह जाते हैं। इस रीति से इन दोनों का लक्ष्य-लक्षणभाव हो जाता है अर्थात् स 'अयं' शब्द, लक्षण है और अविरुद्ध 'देवदत्त व्यक्ति' उनका लक्ष्य है।

ठीक इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य के तत् और त्वम् पदों या पदार्थों का सर्वज्ञत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादिरूप विरुद्धांश का त्याग कर देने पर अखण्ड-चैतन्य के साथ परस्पर लक्ष्य-लक्षणभाव संबंध हो जाता है। अर्थात् 'तत् और त्वम्' पद लक्षण हैं और 'अखण्ड-चैतन्य' उनका लक्ष्य है। इसी लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध को भागलक्षणा या भागत्यागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं। केवल संज्ञामात्र का ही भेद है, अर्थ में कोई भेद नहीं है। एवञ्च विरुद्धांश का त्याग-कर तत् और त्वम् दोनों एक अखण्ड (अविरुद्ध) चैतन्य के ही बोधक हो जाते हैं।

व्युत्पत्तिः—महावाक्यार्थ—चार महावाक्य प्रसिद्ध हैं, जैसे—(१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० आर० ५।३), (२) 'अहं ब्रह्मास्मि, (बृहदा० १।४।१०), (३) 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य० ६।८।७) और (४) 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू० २)।

अखण्डार्थ—निर्गुण, निराकार, परब्रह्म, सर्वदा एक रूप।

सामानाधिकरण्य—भिन्नार्थक समान विभक्ति वाले दो पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य होना।

सोऽयं देवदत्तः—चार वर्ष पूर्व किसी अन्य देश में देखा हुआ देवदत्त आज यहाँ दिखाई देने पर यह तो वही देवदत्त है कहते हैं, ऐसी स्थिति में सः और अयं दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं क्योंकि सः शब्द अन्य देशवासी तथा चार वर्ष पूर्व वाले को बता रहा है, और अयं शब्द आज तथा इस स्थान पर स्थित वाले को बता रहा है। तथा दोनों शब्द प्रथमा विभक्ति (एक=समान विभक्ति) में निर्दिष्ट है। अतः ये दोनों शब्द भिन्नार्थक तथा समान विभक्तिवाले हैं तथापि इनका तात्पर्य देवदत्तरूप एक ही व्यक्ति के बताने में है। इसलिए दोनों पदों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

तत्त्वमसि—'तत्+त्वम्+असि' इस महावाक्य में तत् पद का अर्थ परोक्षत्व, सर्वज्ञत्वविशिष्ट है, और 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्व-विशिष्ट है, अतः दोनों पद भिन्नार्थक हैं, तथापि दोनों प्रथमा विभक्ति के एक वचन में है अतः समान विभक्ति वाले हैं। भिन्नार्थक तथा समान विभक्तिवाले इन दोनों पदों का 'चैतन्य' रूप एक ही अर्थ में तात्पर्य है, इसलिए दोन पदों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

परोक्षत्वादिविशिष्ट—परमेश्वर हम लोगों की दृष्टि से परे है; वह अनुमानगम्य है, इसलिए उसे परोक्ष कहते हैं। आदि शब्द से उसमें सर्वज्ञत्व सर्वाधिष्ठातृत्व आदि का ग्रहण किया है।

अपरोक्षत्वादिविशिष्ट—प्रत्येक प्राणी अपने जीवात्मा का अनुभव सदा सर्वदा करता रहता है, उसके अनुभव करने में उसे किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए उसे (जीवात्मा को) अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट कहा गया है। (अपरोक्ष=प्रत्यक्ष) आदि शब्द से अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि का ग्रहण किया है।

अन्योन्यभेदव्यावर्तकतया—विशेषण-विशेष्यभाव तो वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है। व्यावर्तक=पृथक् करने वाला और व्यावर्त्य=पृथक् होने वाला होता है। विशेषण सदा व्यावर्तक रहता है और विशेष्य सदा व्यावर्त्य रहता है। जब सः शब्द का वाच्यार्थ, अयं शब्द के वाच्यार्थ में स्थित भेद का व्यावर्तक रहता है तब वह अर्थात् सः शब्द का वाच्यार्थ विशेषण हो जाता है और अयं शब्द का वाच्यार्थ व्यावर्त्य अर्थात् विशेष्य हो जाता है। उसी तरह अयं शब्द का वाच्यार्थ जब सः शब्द के वाच्यार्थ में स्थित भेद का व्यावर्तक रहता है तब वह अर्थात् अयं शब्द का वाच्यार्थ विशेषण हो जाता है। और सः शब्द का वाच्यार्थ व्यावर्त्य होने से विशेष्य हो जाता है। इस प्रकार दोनों पदों के वाच्यार्थ परस्पर विशेषण और विशेष्य बनते हैं। इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में भी तत् और त्वम् में परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव समझना चाहिये।

लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्धस्तु—लक्षणाशक्ति से जो अर्थ बताया जाता है उसे लक्ष्य कहते हैं और बताने वाले शब्द को लक्षण = लक्षक कहते हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग या भागलक्षणा) के द्वारा अखण्डार्थ का बोधन करता है। इस जहदजहल्लणा में वाच्य अर्थ के कुछ अंश का त्याग किया जाता है और कुछ अंश का त्याग नहीं किया जाता। जहत् = वाच्यार्थ के एक अंश को त्याग करती हुई तथा अजहत् = वाच्यार्थ के दूसरे अंश का त्याग न करती हुई, लक्षणा=वाच्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोधन करने वाली वृत्ति। एक भाग (अंश) का त्याग कर शेष भाग का ग्रहण करने से इसे भाग-लक्षणा या भागत्याग लक्षणा भी कहते हैं ॥ २७ ॥

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में विशेषण-विशेष्यभाव का निरूपण कर रहे हैं—

(विशेषण-विशेष्यभावनिरूपणम्)

अस्मिन्वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्लयपटादिभेदव्यावर्तकतयान्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्तरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते। अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

"संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मत" इति ॥ २८ ॥

सा० बो — ननु यथा 'नीलोत्पलम्' इत्यत्र नीलगुणस्य उत्पलद्रव्यस्य च स्व (नील-उत्पलद्रव्य) व्यतिरिक्तशुक्लपीतादिगुणान्तर—पटादिद्रव्यान्तरव्यावर्तकत्वेन विशेषण-विशेष्यभावनिरूपिततद्भिन्न (नीलगुणवैशिष्ट्यरूपः) संसर्गो वाक्यार्थः अर्थात् नीलम्-उत्पलम् इत्यनयोः विशेषण-विशेष्यभावरूपेण संसर्गेण वाक्यार्थबोधः अथवा नीलगुणविशिष्टं यत् तदेव उत्पल इत्येवं विशिष्टो वा वाक्यार्थबोधः। तथैव अत्रापि तत्त्वमस्यादिवाक्ये तत्पदार्थस्य परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य, त्वम्पदार्थस्य अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य च अन्योन्यभेदव्यावर्तकतया, विशेषण-विशेष्यभूत-सर्वज्ञत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वोभयनिरूपितसंसर्गो वा सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टेन सह ऐक्यं वाक्यार्थो भवतु इत्याशंक्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यान्नैवमित्याह—

अस्मिन्नित्यादिना—नीलोत्पलमिति दृष्टान्तवाक्ये 'तत्त्वमसीति' दार्ष्टान्तिक-वाक्ये च महान् भेदः इतिकृत्वा अत्र नीलोत्पलवत् संसर्गरूपः विशिष्टो वा वाक्यार्थः न संगच्छते। कुत इति चेत् ? नीलोत्पलमित्यत्र 'नीलम्' इति गुणः, उत्पलम् इति च द्रव्यम् (गुणी), अतः गुण-गुणिनोस्तयोर्विशेषण-विशेष्यभाव-रूपः संसर्गः, नीलगुणविशिष्टं यत् तदेव उत्पलद्रव्यम् इति नीलगुणविशिष्टस्य उत्पलद्रव्यस्य च एकतारूपः विशिष्टो वा वाक्यार्थः संगच्छते, किन्तु तत्त्वमसीति वाक्ये 'तत्'पदं 'त्वं'पदं च उभयं द्रव्यम् इतिकृत्वा संसर्गो वा विशिष्टो वा एकतारूपो वा सम्बन्धः न वक्तुं शक्यः, द्वयोर्द्रव्ययोर्विशेषण-विशेष्यसंसर्गा-संभवात्। परोक्षत्वादिविशिष्टं यत् तदेव अपरोक्षत्वादिविशिष्टमित्येवं विशिष्टा-र्थकल्पने विरोधस्य प्रत्यक्षत्वात् तत्त्वमसीतिवाक्यस्य वाच्यार्थः नोपपद्यते। श्रीविद्यारण्यस्वामिपादैरप्येतदेवोक्तम् —अत्र=तत्त्वमसीतिवाक्ये, संसर्गः=भेद-संसर्गरूपः, वा=अथवा, विशिष्टः=अभेदसंसर्गरूपः, वा=अपि, वाक्यार्थः=तत्त्व-मसीतिवाक्यस्य अर्थः, न=नैव, सम्मतः=अभीष्टोऽस्ति। (किन्तु=परन्तु) अत्र= तत्त्वमसीतिवाक्ये अखण्डैकरसत्वेन=स्वगतादिभेदरहितेन वस्तुरूपेण, वाक्यार्थः= वाच्यार्थः, विदुषाम्=वेदान्तविदाम्, मतः=अभीष्टः—(पञ्चदशी ७।७५)।

अयमभिप्रायः—नीलोत्पलपदार्थयोः गुण-गुणिनोः विशेषण-विशेष्यभाव-संसर्गस्य नीलगुणविशिष्टोत्पलयोरैक्यस्य वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे अप्रत्यक्षादि-प्रमाणान्तरविशेषाभावात् तत्र तथा संगच्छते, किन्तु तत्त्वमसीतिवाक्ये तत्-त्वम्पदार्थयोः सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टयोः सर्वज्ञत्वादिविशिष्टेश्वर-चैतन्यस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य वा तदुभयविशिष्टचैतन्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधात् पूर्वस्माद् वैषम्यम् ॥ २८ ॥

विमला—'तत्त्वमसि' तथा 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में जैसे सामानाधि-करण्य और विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है, वैसे ही 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में भी सामानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर अभिधा से ही अर्थबोध हो जाता है, लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती। उसी तरह 'नीलमुत्पलम्', 'सोऽयं देवदत्तः' में भी अभिधा से ही वाक्यार्थबोध क्यों नहीं होता ? भागत्याग-लक्षणा क्यों करनी पड़ती है ? इस आशंका के समाधानार्थ

कहा गया है—'अस्मिन् वाक्ये' इति। 'नीलमुत्पलम्' = नीला कमल, इस वाक्य में वाच्य अर्थ जैसे ठीक हो जाता, वैसे 'तत्त्वमसि' वाक्य में वाच्यार्थ ठीक नहीं हो पा रहा है, कारण यह है कि दोनों वाक्य सुनने में एक से लगने पर भी विचार की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य में 'नील' गुण है और 'उत्पल' गुणी (द्रव्य) है। इन दोनों (गुण-गुणी) में विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध (सामानाधिकरण्य) अथवा जो 'नीलगुणविशिष्ट है वही उत्पल है' इस प्रकार दोनों के विशिष्टरूप अर्थ की अथवा दोनों की एकता को वाक्यार्थ के रूप में मानने में किसी अन्य प्रमाण से विरोध नहीं होता। इसलिए 'नीलमुत्पलम्' में संसर्ग या विशिष्टरूप वाक्यार्थ ठीक है किन्तु 'तत् त्वम् असि' इस वाक्य में पहले वाक्य की तरह एक गुण और दूसरा द्रव्य नहीं है, अपितु दोनों द्रव्य हैं अर्थात् 'तत्' का अर्थ भी 'द्रव्य' है और 'त्वम्' का अर्थ भी 'द्रव्य' है। तत्पद का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है, और 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। अतः दो द्रव्यों का विशेषण-विशेष्यभावरूप संसर्ग अथवा परोक्षत्वादिविशिष्ट जो चैतन्य है, वही अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है इस विशिष्ट वाक्यार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि जो तत्पदवाच्य परोक्षत्वादिविशिष्ट सर्वज्ञ चैतन्य है वह 'त्वम्' पदवाच्य अपरोक्षत्वादिविशिष्ट-अल्पज्ञजीव-चैतन्य कैसे होगा ? दोनों को एक कह देने में प्रत्यक्ष विरोध होगा। अतः यहाँ पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ या विशिष्ट रूप वाक्यार्थ संगत नहीं है। यहाँ पर दोनों पदों के अर्थ द्रव्यरूप होने के कारण तथा परस्पर विरुद्ध होने के कारण भी अभेद-संसर्गरूप वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। इसलिए यहाँ पर लक्षणा करनी पड़ती है, और तत्त्वमसि यह महावाक्य अखण्डैकरस ब्रह्म का बोधक कहा जाता है। यही बात पंचदशीकार ने 'ससर्गो वा' इस कारिका के द्वारा बताई है ॥२८॥

व्युत्पत्तिः—वाक्यार्थः—'वाक्यार्थ शब्द का प्रयोग 'वाच्यार्थ' के अर्थ में किया गया है।

नीलमुत्पलमिति—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा अखण्डैकरस-ब्रह्मरूप अर्थ की प्रतीति करानी है। वह प्रतीति, अभिधावृत्ति से हो नहीं

सकती। क्योंकि तत् और त्वम् इन दो पदों के वाच्यार्थों में पूर्ण समानता नहीं है, इसलिए अखण्ड-अर्थ का बोध कराने के लिए यहाँ पर लक्षणावृत्ति का आश्रय करना पड़ता है। 'नीलमुत्पलम्' में अखण्डार्थ की प्रतीति कराना विवक्षित नहीं है। यहाँ पर 'नील' का वाच्यार्थ है 'नीलगुण' और 'उत्पल' का वाच्यार्थ है उत्पल (कमल) द्रव्य। नीलगुण, अपने से भिन्न श्वेत, पीत, रक्त आदि गुणों का व्यावर्तक है, और 'उत्पल' द्रव्य, अपने से भिन्न घट, पट आदि द्रव्यों का व्यावर्तक है। एवं च यहाँ पर गुण-गुणिभाव सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं होता। यहाँ पर अनेक वाक्यार्थ हो सकते हैं—

(१) (नील एवं उत्पल) दोनों के वाच्यार्थों का परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध।

(२) (नीलत्वविशिष्टमुत्पलम्) एक से विशिष्ट अन्य पदार्थ, अथवा (उत्पलत्व-विशिष्टं नीलम्)।

(३) (नीलाऽभिन्नमुत्पलम्) अथवा (उत्पलाभिन्नं नीलम्) दोनों पदार्थों की एकता (अभेद)।

तात्पर्य यह है कि 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के तीनों प्रकार से अर्थ कर सकते हैं। कोई विरोध नहीं होता। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी इसी प्रकार से अर्थ यदि किया जाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध होगा। जीव और ब्रह्म का एक समझना प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा तर्क से विरुद्ध होने के कारण सम्भव नहीं। क्योंकि एक (जीव) प्रत्यक्ष है और दूसरा (ईश्वर) परोक्ष है। एक (जीव) अल्पज्ञ है और दूसरा (ईश्वर) सर्वज्ञ है। इसलिए नीलमुत्पलम् वाक्य का अर्थ अभिधावृत्ति से जैसे किया जाता है वैसे तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ अभिधावृत्ति से न हो सकने से लक्षणावृत्ति का आश्रय करना पड़ता है।

संसर्ग—कारक या विभक्तियों द्वारा प्रकट किये जाने वाले (पदों के) सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं। वह संसर्ग दो प्रकार का होता है— भेदरूप संसर्ग और अभेदरूप संसर्ग।

भेदरूप संसर्ग—वाक्य में प्रयोग किये गये पदों का परस्पर सम्बन्ध जहाँ भिन्न विभक्तियों द्वारा बताया जाता है, वहाँ भेदरूप संसर्ग होता है। ऐसी जगह सामानाधिकरण्य का अभाव होता है। जैसे—कलशेन जलम् आनयति (घड़े से जल लाता है) यहाँ पर कलश और जल में भिन्न विभक्तियों द्वारा सम्बन्ध बताया गया है। अतः सामानाधिकरण्य नहीं है।

अभेदरूप संसर्ग—वाक्य में उपयुक्त पदों का परस्पर सम्बध जहाँ समान विभक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता हो, वहाँ अभेद संसर्ग होता है। पदों में समान विभक्तियों के होने से वहां सामानाधिकरण्य समझा जाता है। अभेद संसर्ग जहाँ होता है वहाँ प्रायः विशेष्य-विशेषणभाव रहता है। नीलमुत्पलम् की तरह तत्त्वमसि वाक्य में भी समान विभक्ति वाले पदों के होने से सामानाधिकरण्य है। अतः संसर्ग का दूसरा भेद यहाँ होने से इसमें भी अभेद संसर्ग ही होना चाहिए। किन्तु यहाँ अभेद संसर्ग नहीं माना जाता। क्योंकि तत्त्वमसि वाक्य की अर्थप्रक्रिया नीलमुत्पलम् से भिन्न है। नीलमुत्पलम् में नील पद गुण का और उत्पल पद द्रव्य का वाचक है। इसलिए इस वाक्य के दोनों पदों में गुण-गुणिभाव या विशेषण-विशेष्यभाव मानने में कोई अड़चन नहीं होती। किन्तु तत्त्वमसि वाक्य के तत्-त्वम् दोनों पदों के अर्थ द्रव्यरूप हैं और वे परस्पर नितान्त विरुद्ध भी हैं, अतः यहाँ पर अभेद संसर्ग रूप वाच्यार्थ बाधित हो जाता है, इस कारण लक्षणावृत्ति से अखण्डार्थ को बताया जाता है॥ २८॥

तत्त्वमसि महावाक्य में जहल्लक्षणा नहीं हो सकती, यह बता रहे हैं—

(जहल्लक्षणानिरूपणम्)

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा संगच्छते। अत्र

तु परोक्षा परोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न संगच्छते । न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम् । तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात् ॥ २९ ॥

सारबोधिनी—तत्त्वमस्यादि महावाक्यं किं जहल्लक्षणया अखण्डार्थं बोधयति उत अजहल्लक्षणया अथवा जहदजहल्लक्षणया ? इति जिज्ञासायां आद्यविकल्पे दूषणमाह—अत्रेति । अत्र तत्त्वमसीतिवाक्ये जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते इत्यन्वयः । तदेव प्रदर्शयितुं जहल्लक्षणाया उदाहरणं प्राह—गंगायामिति । "मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे । मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते" ॥—(वाक्यवृत्तिः ४९) इति वचनानुसारेण मुख्यार्थबाधे वाच्यार्थं (मुख्यार्थं) सम्पूर्णतया त्यक्त्वा तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिर्लक्षणा भवति । इयं लक्षणा तत्रैव भवति यत्र मुख्यार्थस्य बाधः । यथा—गंगायां घोषः इत्यत्र गंगाशब्दस्य भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहरूपो मुख्यार्थः घोषस्य च आभीरपल्लीरूपो मुख्यार्थः । अनयोराधाराधेयभावो नैव संभवितुमर्हति, प्रवाहे घोषस्थितेः सर्वथाऽसंभवात् इति मुख्यार्थबाधः । अत्र गंगाशब्दः प्रवाहरूपं मुख्यार्थम् अशेषतः (पूर्णरूपेण) परित्यज्य तत्सम्बन्धितीररूपमर्थान्तरे लक्षयति, तदा गंगातीरे घोषः इत्यर्थोपपत्तिः, अतः तत्र जहल्लक्षणा समुचिता । तत्त्वमसीति महावाक्ये तु परोक्षाऽपरोक्षचैतन्यैकत्वरूपस्य वाक्यार्थस्य न सर्वथा विरोधः, अपितु परोक्षाऽपरोक्षत्वप्रतिपादकभागमात्रे विरोधः, चैतन्यैकत्वांशे च

अविरोधः इति तच्छब्दे त्वं शब्दे वा पूर्णरूपेण मुख्यार्थबाधस्य असंभवात् परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वप्रतिपादकविरुद्धांशपरित्यागेऽपि चैतन्यैकत्वरूपस्य अविरुद्धांशस्य तादवस्थ्यात् जहल्लक्षणया चैतन्यैकत्वबोधनस्य असंभवात् भागलक्षणैवात्रोचिता।

ननु यथा 'गंगायां घोषः' इत्यत्र गंगाशब्दः प्रवाहरूपं स्वार्थं परित्यज्य तत्सम्बन्धिनं तीरपदार्थं लक्षणया बोधयति तथैव 'तत्त्वमसी'ति वाक्ये 'तत्' पदं परोक्षत्वादिविशिष्टरूपं स्वार्थं परित्यज्य जीवचैतन्यं लक्षणया बोधयतु। एवमेव 'त्वम्' पदमपि किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टरूपं स्वार्थं परित्यज्य ईश्वरचैतन्यं लक्षणया बोधयतु इति जहल्लक्षणा सर्वथा संभवति, इतिचेत्, न। श्रुतस्य मुख्यार्थबाधे सति तत्सम्बन्धिनि अश्रुतपदार्थे एव लक्षणायाः सर्वसम्मतत्वात् 'गंगायां घोषः' इत्यत्र च गंगा-घोषयोः आधाराऽऽधेयभावसम्बन्धविरोधे (मुख्यार्थबाधे) तीरपदस्य अश्रवणेन च तदर्थस्य अप्रतीतौ श्रुतेन गंगापदेन जहल्लक्षणया तत्संबन्धिनः अश्रुततीरपदार्थस्य प्रतीतिर्भवति। तत्त्वमसीत्यत्र तु 'तत्'पदं 'त्वम्'पदं च उभयं श्रूयमाणमिति ताभ्यां मुख्यतयैव सर्वज्ञत्वाऽल्पज्ञत्वादिविशिष्टरूपतदर्थप्रतीतौ मुख्यार्थबाधस्य असम्भवात् लक्षणया 'तत्'पदेन त्वम्'पदार्थस्य' 'त्वम्'-पदेन च 'तत्'पदार्थस्य वा प्रतीतेरपेक्षाभावात् जहल्लक्षणाया असम्भवः ॥२९॥

विमला—पहले कह चुके हैं कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थज्ञान अभिधावृत्ति से नहीं हो सकता। वह लक्षणा से ही होगा। लक्षणा के तीन प्रकारों में से जहदजहल्लक्षणा के द्वारा ही अखण्डार्थ का बोध होता है, उस अखण्डार्थ का ज्ञान जहल्लक्षणा से नहीं हो सकता यह अब बता रहे हैं। जहल्लक्षणा का निराकरण—जहाँ पर शब्द अपने सम्पूर्ण अर्थ का परित्याग कर, उस अर्थ से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को सूचित करता है वहाँ जहल्लक्षणा होती है। 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ 'प्रवाह' है, उस पर 'घोष' की स्थिति होना कदापि सम्भव नहीं, इस कारण 'गंगा' शब्द अपने 'प्रवाह' रूप मुख्य अर्थ का त्याग कर उस मुख्यार्थ (प्रवाह) के साथ सामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध जो 'तीर' रूप अर्थान्तर है, उसे बोधित करने लगता है, तब 'गंगायां घोषः' का अर्थ 'गंगातीरे घोषः' समझा जाता है। अतः

इसमें जहल्लक्षणा मानी जाती है। उसी तरह 'तत्त्वमसि' में भी यदि कहें कि 'तत्' शब्द (पद) का वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) जो परोक्षत्वादिविशिष्टसर्वज्ञ-चैतन्य है, वह 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञ-अपरोक्षत्वविशिष्टचैतन्य कभी नहीं हो सकता। अतः यहाँ भी वाक्यार्थ अनुपपन्न है, इसलिए यहाँ भी तत् पद की 'त्वम्' पद में या 'त्वम्' पद की 'तत्' पद में लक्षणा मान ली जाय, जिससे दोनों पद 'अखण्ड चैतन्य' रूप अर्थ के बोधक हो सकेंगे। किन्तु यह कहना उचित न होगा। क्योंकि जहल्लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) को सर्वथा (पूर्णरूप से) त्याग देता है। यहाँ पर तो 'तत्' पद या 'त्वम्' पद अपने मुख्यार्थ 'चैतन्य' का सर्वथा परित्याग नहीं कर रहे हैं, क्योंकि उस (चैतन्य) अंश में कोई विरोध नहीं है, केवल परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादिरूप एक अंश (भाग) में ही विरोध है। इस विरुद्ध वाच्यार्थ के साथ चैतन्यरूप अविरुद्ध वाच्यार्थ को भी त्याग करके सर्वथा भिन्न अर्थ में लक्षणा करनी होगी। अतः यहाँ लक्षणा मानना उचित नहीं है, इस पर भी पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि जिस प्रकार 'गंगा' शब्द अपने वाच्यार्थ (प्रवाह) को त्याग कर लक्षणा के द्वारा 'तीर' शब्द के वाच्यार्थ (तट-किनारा) का बोध कराता है, उसी प्रकार 'तत्' पद भी अपने वाच्यार्थ को त्यागकर 'त्वम्' पद के अर्थ को और 'त्वम्' पद अपने वाच्यार्थ को त्याग कर 'तत्' पद के वाच्य अर्थ को लक्षणा के द्वारा बता देगा, जो जहल्लक्षणा क्यों नहीं हो सकती ?

अर्थात् जहल्लक्षणा 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी हो सकती है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा कभी भी संगत नहीं होगी क्योंकि 'गंगायां घोषः' में 'तीर' पद उपस्थित नहीं है अतः वह सुनाई नहीं पड़ता, इस कारण तीर पद के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए तीरपद के अर्थ की प्रतीति करने के लिए लक्षणा की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए गंगायां घोषः में तो जहल्लक्षणा करना उचित है, किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् और त्वम् दोनों पद श्रुत हैं, अर्थात् सुनाई देते हैं, और उनके अर्थ की प्रतीति भी होती है। इस कारण पुनः लक्षणा के द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' इन दोनों में से किसी एक पद से किसी दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति कराने की आवश्यकता

नहीं रहती। अतः गंगायां घोषः की तरह तत्त्वमसि वाक्य में जहल्लक्षणा कदापि नहीं होगी ॥ २९ ॥

व्युत्पत्तिः—लक्षणा संगच्छते—सुनाई देने वाले वाक्य का मुख्य अर्थ जब संगत प्रतीत नहीं होता, तब मुख्य अर्थ से ही सम्बद्ध, तथा वाक्यान्तर्गत पदों के द्वारा प्रतीत न होनेवाले अर्थान्तर को बताने के लिए लक्षणा की जाती है, यह शास्त्र सिद्धान्त है। 'गंगायां घोषः'—गंगा के प्रवाह पर अहीरों का गाँव यह उक्त वाक्य का मुख्य अर्थ है। यहाँ गंगा का प्रवाह (धारा) आधार है और घोष आधेय है। अतः उक्त मुख्य अर्थ यहाँ संगत नहीं हो रहा है, क्योंकि जल प्रवाह (धारा) पर गाँव का होना सम्भव ही नहीं हो सकता। अतः गंगा शब्द की गंगा के तट में लक्षणा की जाती है। तब 'गंगायां घोषः' वाक्य का अर्थ समझ में आ जाता है कि गंगा के तट पर अहीरों का गाँव है। यहाँ पर लक्षणा से ज्ञात होने वाला 'गंगातट' रूप अर्थ, वाक्य के किसी शब्द (पद) से नहीं ज्ञात हो रहा था; इसलिए उसे लक्षणा से बताना पड़ा। किन्तु तत्त्वमसि वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ है—परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और 'त्वं' पद का अर्थ है—अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य, इन दोनों अर्थों में परस्पर पूर्ण विरोध न होने से यहाँ लक्षणा नहीं होगी। और एक पद से दूसरे पद के अर्थ का भी लक्षणा के द्वारा बोध नहीं कराया जा सकता, क्योंकि जब कोई शब्द अपनी अभिधावृत्ति से अर्थ का बोध करा कर चरितार्थ हो जाता है, तब उसमें लक्षणा के द्वारा किसी अन्य अर्थ के बोध कराने की क्षमता नहीं होती ॥ २९ ॥

तत्त्वमसि—महावाक्य में अजहल्लक्षणा नहीं हो सकती, यह बता रहे हैं—

(अजहल्लक्षणा-निरूपणम्)

अत्र शोणो धावतीतिवाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट-

चैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्यकस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव । न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणांगीकरणमिति वाच्यम् । एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥ ३० ॥

सारबोधिनी—'तत्त्वमसी'ति महावाक्ये जहल्लक्षणाया यथा असम्भवः प्रदर्शितः, तथा अजहल्लक्षणापि अत्र न सम्भवति । कुत इत्येव आह—**तत्र शोणगुणेति** । 'वाच्यार्थस्य अपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिः अजहल्लक्षणा' इति अजहल्लक्षणाया लक्षणम् । तदनुसारेण 'शोणो धावति' इत्यत्र शोणगुणस्य धावनं सर्वथा असम्भवमेव, इतिकृत्वा मुख्यार्थो बाधितो भवति तदा श्रूयमाणस्य शोणपदस्य वाच्यार्थः (मुख्यार्थः) शोणगुण एव । तस्य (मुख्यार्थस्य) अपरित्यागेन शोणगुणाश्रये अश्वादौ लक्षणा क्रियते, तेन वाक्यार्थानुपपत्तिर्नभवति । अर्थात् शोणो धावतीत्यत्र वाक्यार्थः संगतो भवति । अतः अस्मिन शोणो धावतीतिलौकिकवाक्ये अजहल्लक्षणा उचितैव । किन्तु तत्त्वमसीत्यादिवाक्ये तु तत्पदस्य त्वंपदस्य च परस्परं विरुद्धो यो वाच्यार्थः (मुख्यार्थः) तमपरित्यज्य परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्य-बोधकेन तच्छब्देन अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य, अपरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यबोधकेन त्वंशब्देन परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य वा लक्षितत्वेऽपि परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वादिलक्षणविरोधः सुस्थिर एव । तस्मात् अत्र अजहल्लक्षणाया न कोऽप्युपयोगः ।

ननु तत्-त्वम्पदयोः परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वाद्यंशे विरोधः, चैतन्यांशे तु उभयोः अविरोध एव, इति अविरुद्धचैतन्यांशसहितं किन्तु परित्यक्तपरोक्षत्वादिधर्म-

रूपविरुद्धांशं तत्-पदं, अपरोक्षत्वादिविशिष्टं जीवचैतन्यं लक्षयतु। एवमेव उभयसामान्यचैतन्यांशसहितं किन्तु परित्यक्ताऽपरोक्षत्वादिधर्मरूपविरुद्धांशं 'त्वम्'पदं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमीश्वरचैतन्यं लक्षयतु। तदा जहदजहल्लक्षणायाः का आवश्यकता ? इति चेत्, न। एकेनैव तत्पदेन परित्यक्तस्य विरुद्धांश-परोक्षत्वादिरूपस्य अर्थस्य, चैतन्यरूपान्यतरपदार्थस्य च बोधनाय उभयलक्षणाया असंभवात्। अयमभिप्रायः-शोणो धावतीत्यत्र यथा शोणशब्दः स्वार्थबोधनपुरःसरं लक्षणया नीलपीतादर्थबोधनाय असमर्थः, तथा 'तत्त्वमसि'वाक्येऽपि तत्-त्वम्-पदयोः अन्यतरत् लक्षणया स्वार्थ-परार्थोभयबोधनाय असमर्थम्।

अपि च—यदा 'तत्'पदं, 'त्वम्'पदं च उभयं श्रूयमाणमस्ति, तदा ताभ्यामभिधावृत्त्यैव तदर्थप्रतीतिर्भवत्येव, तेन लक्षणया अन्यतरपदेन अन्यतरार्थस्य प्रतीतेः अपेक्षैव नास्ति। अतः तत्त्वमसीति वाक्ये अजहल्लक्षणापि नोचिता। तत्राखण्डार्थबोधनाय जहदजहल्लक्षणैव (भागलक्षणा-भागत्यागलक्षणा) अपेक्ष्यते ॥ ३० ॥

विमला—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'शोणो धावति'=लालरंग दौड़ रहा है—की तरह अजहल्लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं कराया जा सकता। क्योंकि 'शोणो धावति' का मुख्यार्थ लालरंग दौड़ रहा है। किन्तु 'लालवर्ण' तो अमूर्त गुण है अतः उसका दौड़ना संभव नहीं, इसलिए मुख्यार्थ बाधित हो गया। तब वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति लगाने के लिए शोण शब्द की शोणगुण से विशिष्ट अश्व आदि में लक्षणा की जाती है : तब 'शोण' पद अपने 'लालवर्ण' रूप वाच्य अर्थ को लिये हुए ही अजहल्लक्षणा द्वारा शोणगुणविशिष्ट अश्वादि का ज्ञान कराता है। इस कारण वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति लग जाती है। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में यह अजहल्लक्षणा नहीं की जा सकेगी, क्योंकि 'तत्' पद का अर्थ होगा परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद का अर्थ होगा अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। चैतन्यांश में ये दोनों एकत्व के प्रतिपादक हैं। तथापि परोक्षाऽपरोक्षत्वरूप अर्थ में परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए यदि अजहल्लक्षणा मानकर परोक्षत्वादिविशिष्ट 'तत्' और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट 'त्वं' दोनों पदों के द्वारा केवल चैतन्यांश के एकत्व की

कल्पना की भी जाय तो परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूप भेद तो बना ही रहेगा, तब अभेद प्रतीति नहीं हो सकेगी। यदि अभेद की प्रतीति न हो पायी तो लक्षणा मानने से कोई लाभ ही नहीं हुआ। अतः अजहल्लक्षणा से भी तत्त्वमसि वाक्य, अखण्डार्थ का बोधन नहीं करा सकता।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि 'तत्' पद (त्वम्' पद के अर्थ से) विरुद्ध अपने परोक्षत्वादि धर्म (अंश) को छोड़कर अवशिष्ट (बचे हुए–शेष) अर्थात् 'त्वम्' पद के अर्थ से अविरुद्ध (चैतन्य) अंश के सहित, 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ—'किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टजीवचैतन्य' का लक्षणा (अजहल्लक्षणा) से बोध करा देगा, उसी प्रकार 'त्वम्' पद भी ('तत्' पद के अर्थ से) विरुद्ध अपने अपरोक्षत्वादिधर्म (अंश) को छोड़कर अवशिष्ट (बचे हुए—शेष) अर्थात् 'तत्' पद के अर्थ से अविरुद्ध चैतन्य अंश के सहित 'तत्' पद के वाच्य अर्थ 'सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वरचैतन्य का लक्षणा (अजहल्लक्षणा) से बोध करा देगा तो 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अखण्डार्थबोधन में कोई कठिनाई न होगी, तब उक्त दोनों लक्षणाओं से भिन्न भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता ? अर्थात् अखण्डार्थबोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा की आवश्यकता नहीं है।

इस पर सिद्धान्ती कहता है कि एक ही 'तत्' पद या 'त्वम्' पद परित्यक्त किये हुए अपने परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वरूप अर्थ को भी लक्षणा से बतावे और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा से बतावे—इस प्रकार उभय लक्षणा नहीं हो सकती। अर्थात् एक ही पद के द्वारा अपने वाच्य अर्थ के एक अंश तथा दूसरे पद के सम्पूर्ण वाच्य अर्थ को लक्षणावृत्ति से बताना सम्भव नहीं।

इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है कि जब तत् और त्वम् दोनों पद वर्तमान रहते हैं, तो उन्हीं से अपने-अपने अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जायगी। ऐसी स्थिति में अन्य पद से अन्य पद के अर्थ की प्रतीति पुनः कराने के लिए लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं रहती ॥ ३० ॥

व्युत्पत्तिः—शोणो'धावतीत्यत्र अजहल्लक्षणा—'शोणो धावति'=लाल दौड़ रहा है, लेकिन शोण=लाल रंग तो गुण है, अतः उसमें धावन (दौड़ना) क्रिया कैसे सम्भव हो सकती है ? अर्थात् कदापि सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि क्रिया तो द्रव्य में होती है, गुण में नहीं। गुण तो स्वयं द्रव्य के आश्रित रहता है। इस कारण 'शोणो धावति' इस वाक्य का वाच्यार्थ—'लालरंग दौड़ रहा है'—अनुपपन्न हो जाता है। तत्र शोणे पद की लक्षणा शोणगुणविशिष्ट अश्व आदि में की जाती है। लक्षणा करने पर लक्ष्यार्थ यह हुआ 'लाल-रंगवाला घोड़ा दौड़ रहा है।' यहाँ पर शोण पद अपने वाच्यार्थ का बोध कराता हुआ अपने आश्रय अश्व का भी बोध कराता है। मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का त्याग बिना किये अश्वरूप अर्थान्तर का बोध कराने वाली अजहल्लक्षणा यहाँ उपपन्न होती है।

अत्र तु न सम्भवत्येव—

किन्तु तत्त्वमसि वाक्य में अजहल्लक्षणा का सम्भव ही नहीं हो सकता। यहाँ पर 'तत्' पद का मुख्यार्थ परोक्षत्वादि से विशिष्ट चैतन्य, उसी तरह 'त्वम्' पद का मुख्यार्थ अपरोक्षत्वादि से विशिष्ट चैतन्य। इन दोनों पदों के अर्थों की एकता यहाँ पर अभीष्ट है। यह एकता तभी सम्भव हो सकेगी कि जब दोनों पदों के अर्थों में रहनेवाले परस्पर विरुद्ध अंशों का त्याग किया जाय। अजह-ल्लक्षणा की सहायता से तत् और त्वम् पद अपने-अपने अर्थों का परित्याग बिना किये यदि किसी अर्थ को लक्षित भी करें तो भी विरोध दूर नहीं होगा। ऐसी स्थिति में लक्षणा करना भी व्यर्थ होगा। इसीलिए तत्त्वमसि वाक्य में अजहल्लक्षणा का सम्भव ही नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

तत्त्वमसि महावाक्य में जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा) होती है, यह बता रहे हैं—

(जहदजहल्लक्षणा-निरूपणम्)

तस्माद्यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालै-

तत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्ध-तत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वात्परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्ध-परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्ड-चैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥ ३१ ॥

सारबोधिनी—अन्ततो गत्वा भागलक्षणां विना नाखण्डवाक्यार्थसिद्धिः। तयैव एकार्थपर्यवसायित्वेन पदयोः समानाधिकरण्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति। तत्त्वमसीति महावाक्ये भागत्यागलक्षणयैव अखण्डार्थस्य प्रतीतिः। भागलक्षणायाः स्वरूपन्तु—वाक्यार्थस्य एकदेशपरित्यागेन एकदेश-वृत्तित्वम्। अर्थात् यत्र शब्दः आंशिकरूपेण स्वार्थं परित्यज्य आंशिकमर्थमव-बोधयति तत्र भागलक्षणा (भागत्यागलक्षणा—जहदजहल्लक्षणा) भवतीत्यभि-प्रायः। यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये तत्काल—तद्देशसम्बन्धविशिष्टैतत्कालै-तद्देशविशिष्टरूपार्थयो सोऽयंशब्दयोः देश-काल-विरोधेऽपि देवदत्तव्यक्तिरूपैका-र्थस्य बोधनाय जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा) अङ्गीक्रियते, तथैव 'तत्त्वमसी'ति महावाक्येऽपि विरुद्धपरोक्षत्वाऽपरोक्षत्वाद्यंशं जहत्, अविरुद्धचैतन्यांशं च अज-हत् 'तत्—त्वम्' इति पदद्वयम् अखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयति। एवमधिकारिणः ब्रह्मजिज्ञासोः तत्—त्वं ब्रह्म-जीवयोः तादात्म्यावबोधे जाते सति त्वमर्थस्य अब्रह्मत्वं तदर्थस्य च परोक्षत्वं व्यावर्तते, अखण्डानन्दस्वरूपेण प्रत्यग्बोधश्चा-वतिष्ठते ॥ ३१ ॥

विमला—भागलक्षणा की स्थापना—जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा दोनों ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य में संगत न हो सकने से यह तीसरे प्रकार की 'जहदजहल्लक्षणा' नाम की लक्षणा के द्वारा उस महावाक्य से अखण्डार्थ का बोध कराया जाता है। इस लक्षणा में शब्द अपने वाच्यार्थ के कुछ अंश को त्यागकर अवशिष्ट अंश का बोधक रह जाता है। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः' यह

वाक्य अथवा उसका मुख्यार्थ 'भूतकालविशिष्ट देवदत्त ही वर्तमानकाल-विशिष्ट देवदत्त है।' इस वाच्यार्थ के एक भाग में ही विरोध है, अतः 'भूत-कालविशिष्टत्व' (तत्कालविशिष्टत्व) एवं 'वर्तमानकालविशिष्टत्व' (एतत्काल-विशिष्टत्व) को त्यागकर केवल 'देवदत्त' भाग को ही लक्षणा के द्वारा बोधित कराता है। वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अथवा उसका वाच्यार्थ 'परोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्य' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य' के एक भाग में ही विरोध होने से उस विरुद्ध भाग (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व) को त्यागकर (जहत्) और अविरुद्ध (तत् एवं त्वं दोनों पदों के अवशिष्ट अर्थों में प्राप्त अखण्ड-चैतन्यमात्र को न त्यागकर (अजहत्) अविरुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को लक्षित करते हैं।

इस प्रकार अधिकारी ब्रह्म-जिज्ञासु को तत्-त्वं पदवाच्य ब्रह्म—जीव में तादात्म्यज्ञान होता है, तथा त्वमर्थ के अब्रह्मत्व और परोक्षत्व की निवृत्ति हो कर पूर्ण आनन्दस्वरूप और प्रत्यग्बोध ही शेष रह जाता है॥ ३१॥

व्युत्पत्तिः— जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा) वहीं होती है, जहाँ शब्द अपने सम्पूर्ण अर्थ के विरुद्ध अंश को त्याग कर एक दूसरे अविरुद्ध अर्थभाग को लेते हुए अन्य को लक्षित करता है॥ ३१॥

अहम्ब्रह्मास्मि इस अनुभव वाक्य का अर्थ बता रहे हैं—

(अनुभववाक्यार्थः)

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावापरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा

पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति । तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूत सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति ॥ ३२ ॥

सारबोधिनी—यदा श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो गुरुः अध्यारोपापवादन्यायेन तत्त्वमसीत्येतद्घटक–'तत्त्व''पदार्थौ सम्यगवबोध्य अधिकारिणं शिष्यं तत्त्वमसीतिवाक्येन अखण्डार्थमवबोधयति तदा 'अहं प्रत्यगात्मा परब्रह्म अस्मि' इति अधिकारिणः शिष्यस्य चित्तवृत्तिरुत्पद्यते । अर्थात् देहेन्द्रियादिसकलदृश्यविलक्षणस्य प्रत्यगात्मनो जीवाख्यचैतन्यस्य विशुद्धेन परमात्मचैतन्येन सह एकत्वं विज्ञाय अहं ब्रह्मास्मि इति वाक्यार्थमनुस्मरन् स्वात्मलक्षणमखंडमानन्दमनुभवतीत्यर्थः । ब्रह्मणि अनित्यत्वशङ्कां निराकरोति–नित्येति । शुद्धपदम् अविद्यादिदोषराहित्यं सूचयति । बुद्धपदं स्वप्रकाशस्वरूपत्वेन जाड्यादिकं व्यवच्छिनति । मुक्तपदं सर्वोपाधिराहित्यं सूचयति । सत्यमिति अविनाशिस्वभावत्वं सूचयति । परमानन्दपदं वैषयिकमनुष्यानन्दादिचतुर्मुखब्रह्मानन्दपर्यन्तानां कर्मजन्यतया सातिशयत्वेन क्षयिष्णुत्वेन च तुच्छत्वात् तेभ्यो विलक्षणं निरतिशयानन्दस्वरूपत्वं प्रतिपादयति । अनन्तपदं घटादिवत् परिच्छेदराहित्येन देशतः कालतः वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नत्वं बोधयति । अद्वयपदं नानात्वनिषेधेन एकत्वम् अवगमयति । ननु यथा प्रदीपप्रभा रविमण्डलं न व्याप्नोति न च प्रयोजनमस्ति तथा नित्यशुद्धबुद्धमात्मानं जडा चित्तवृत्तिः कथं विषयीकृत्य उत्पद्यते किं प्रयोजनञ्चेत्याशङ्क्याह–सा त्वति । सा चित्तवृत्तिः न शुद्धब्रह्मविषयिणी, किन्तु

अज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी अर्थात् कार्यब्रह्म (सोपाधिकब्रह्म) विषयिणीत्यर्थः। सा च चैतन्यप्रतिबिम्बसम्बलिता सती चैतन्यगतमज्ञानं निवर्तयति। तस्याः चैतन्यावरकाऽज्ञाननिवृत्तिरेव प्रयोजनम्। अज्ञाननिवृत्त्यनन्तरमेव 'अहं नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपं 'ब्रह्म' इत्यनुभवस्तस्य भवति। ननु अधिकारिणः शिष्यस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणेन उत्पन्नया अखण्डचैतन्यवृत्त्या प्रत्यक्चैतन्याश्रिताऽज्ञाने निवारितेऽपि अज्ञानकार्यस्य सकलचराऽचरप्रपञ्चस्य पूर्ववदेव प्रत्यक्षतया भासमानत्वात् कथमेकमेवाऽद्वितीयमिति अद्वैतसिद्धिः ? इत्यत आह-तदेति। कारणे विनष्टे कार्यमपि नश्यति इति पटकारणानां तन्तूनां दाहे पटात्मकस्य कार्यस्यापि दाहो यथा भवति, अथैव अखिलप्रपञ्चकारणभूताऽज्ञाननाशे तत्कार्यस्य अखिलप्रपञ्चस्यापि विनाशो भवति। अर्थात् कारणाऽज्ञाननाशे तत्कार्यसमस्तप्रपञ्चनाशादद्वैतसिद्धिरिति यावत्।

ननु कारणभूतस्य अज्ञानस्य नाशेन तत्कार्यभूतस्य प्रपञ्चस्य नाशोऽस्तु तथापि अखण्डाकाराकारितवृत्तेः निवृत्त्यभावात् (सद्भावात्-अनष्टत्वात्) कथमद्वैतसिद्धिः ? इत्याशङ्क्याह—तदन्तर्भूतेति। अखण्डाकाराकारितवृत्तेरपि अज्ञानतत्कार्यभूतप्रपञ्चान्तःपातितया कारणभूताऽज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यस्वरूपवृत्तिप्रपञ्चयोरुभयोरपि विनाशादद्वैतसिद्धिः।

ननु एवमज्ञान-प्रपञ्च-चित्तवृत्तीनां विनाशेऽपि वृत्तौ प्रतिबिम्बितस्य चैतन्याभासस्य वर्तमानत्वात् न अद्वैतसिद्धिः स्यादित आह-तत्रेति। दर्पणे प्रतिबिम्बितं मुखं,दर्पणाभावे यथा पृथक् भावभासते तथा चित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यं, चित्तवृत्त्यभावे पृथक् प्रतीतं न भवति। इत्थञ्च प्रदीपप्रभा यथा रविप्रभां भासयितुम् असमर्था सती, रविप्रभया अभिभूयते, तथैव प्रतिबिम्बितचैतन्यमपि वृत्तिनाशानन्तरं पृथक् न प्रतीयते, अपि तु स्वयं प्रकाशमानस्य प्रत्यगभिन्नपरब्रह्मणः अवभासनाऽसमर्थत्वात् तेन अभिभूतं सत् स्वोपाधिभूतचित्तवृत्तिविनाशात् दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत् प्रत्यगभिन्नमात्रमवतिष्ठते ॥ ३२ ॥

विमला—जब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु अध्यारोप-अपवाद के द्वारा अधिकारी ब्रह्म जिज्ञासु शिष्य को 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् और त्वम् पदों के

अर्थों को अच्छी तरह समझाकर अखण्डार्थ का ज्ञान करा देता है उस शिष्य के चित्त में अखण्डाकाराकारित वृत्ति उत्पन्न होती है कि 'मैं ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-आनन्दरूप ब्रह्म हूँ।' अर्थात् अज्ञान के नष्ट होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार से ब्रह्म-साक्षात्कार रूप अनुभव होता है। किन्तु यहाँ यह आशंका होती है कि जैसे दीपक का प्रकाश (प्रभा) आदित्यमण्डल को व्याप्त नहीं कर सकता, वैसे ही, यह जड़ 'चित्तवृत्ति' स्वयं प्रकाश नित्य-शुद्ध-मुक्त आत्मा को अपना विषय बनाकर कैसे उत्पन्न हो सकती है? उक्त आशंका का उत्तर इस प्रकार है कि वह चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, किन्तु वह अज्ञानावशिष्ट प्रत्यगभिन्न परब्रह्म अर्थात् कार्यब्रह्म (सोपाधिक ब्रह्म) को अपना विषय बनाती है। उस चित्तवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब वह चित्तवृत्ति प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण को हटा देती है। अज्ञानावरण को हटाना ही उस अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के उदित होने का प्रयोजन है। प्रत्यक चैतन्यगत अज्ञानावरण के हटते ही उसे यह अनुभव होने लगता है कि 'मैं ही नित्य, शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप ब्रह्म हूं'। पुनरपि एक आशंका उत्पन्न होती है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सुनने पर उत्पन्न हुई अखण्डाकारवृत्ति से प्रत्यक् चैतन्तगत अज्ञानावरण भले ही नष्ट हो जाय किन्तु अज्ञान से उत्पन्न (अज्ञान का कार्य) अखिल चराचर प्रपञ्च तो पूर्ववत् ही प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, तब 'एकमेवाद्वितीयं' ब्रह्म (अद्वैत) की सिद्धि कैसे हो सकेगी? इस आशंका का समाधान यह किया गया है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है। जैसे तन्तुओं के नष्ट होने पर पट भी नष्ट हो जाता है। वैसे ही अज्ञानरूप कारण के नष्ट होने पर उसके कार्यभूत चराचर प्रपञ्च का भी नाश हो जाता है। अतः पूर्ववत् उसका प्रत्यक्ष भासित होना सम्भव नहीं है। यदि यह कहें कि प्रपञ्च के नष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित वृत्ति के अवशिष्ट रह जाने से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी तो उसका समाधान यह है कि वह वृत्ति भी अज्ञानकार्य रूप प्रपञ्च के अन्तर्गत होने से कारणभूत अज्ञानके विनष्ट होने पर तत्कार्यभूत प्रपञ्च और तदन्तर्गत वृत्ति दोनों का विनाश हो जाता है। इस पर यदि कहें कि अज्ञान-चराचर

प्रपञ्च तथा अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के नष्ट होने पर भी उसमें (वृत्ति में) प्रतिबिम्बित चैतन्याभास तो विद्यमान रहेगा, तब भी अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी, तो उसका समाधान यह है कि अखण्डाकारवृत्ति के नष्ट होने पर, उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्बि पड़ा हुआ था, वह अब अलग प्रतीत नहीं होता। दर्पण में पड़ा हुआ मुख प्रतिबिम्ब दर्पण के हट जाने पर अलग से प्रतीत नहीं होता। केवल मुखमात्र (बिम्ब) भासित होता है। उसी प्रकार वृत्ति में पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब वृत्ति के नष्ट होने पर अलग (पृथक्) से भासित न होकर बिम्ब मात्रशेष रह जाता है। जैसे दीप का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, सूर्य के समक्ष उसका (दीपका) प्रकाश जैसे क्षीण रहता है, उसी प्रकार स्वय प्रकाश प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को वह प्रतिबिम्बित चैतन्य (प्रतिबिम्ब) प्रकाशित नहीं कर सकता। जिस अखण्डचित्तवृत्ति के कारण वह पृथक् प्रतीत हो रहा था उस वृत्ति के नष्ट होने पर केवल बिम्ब ही शेष रह जाता है। दर्पणगत प्रतिबिम्ब दर्पण के रहने तक तो दीखता है, किन्तु दर्पण के न रहने पर बिम्बमात्र (मुखमात्र) ही शेष रह जाता है। उसी प्रकार वृत्ति के नष्ट होने पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब का भी बिम्ब (प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र) ही रह जाता है ॥ ३२ ॥

व्युत्पत्ति–अहं ब्रह्मास्मि—(बृह० आ० १।४।१०) यह महावाक्य अनुभव कराता है। इस लिये इसे अनुभव वाक्य कहते हैं, ब्रह्म के आन्तरिक साक्षात्कार को अनुभव कहते हैं। 'तत्त्वमसि' (छां० उ० ६।८।७) यह महावाक्य उपदेश वाक्य है।

तदा पट–कारणतन्तुदाहे.....चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति—तन्तुओं से पट बनाया जाता है, अतः तन्तु पट के कारण होते हैं। यदि तन्तु जलकर नष्ट हो जाय तो पट भी नष्ट होता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व (प्रपञ्च) का निर्माण अज्ञान से होता है। अतः अज्ञान ही प्रपञ्च का कारण है जब चित्तवृत्ति उस अज्ञान को ही नष्ट कर देती है, तब उस अज्ञान से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण प्रपञ्च भी समाप्त हो जाता है। उस

समय स्वयं वह चित्तवृत्ति भी समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह भी प्रपञ्च के अन्तर्गत है, तब केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है ॥ ३२ ॥

वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति के निरूपण के साथ ही श्रुतियों के विरोध-परिहार को बताते हैं—

(वृत्तिव्याप्तिस्वीकारेण श्रुत्योरविरोधनिरूपणम्)

एवं च सति "मनसैवानुद्रष्टव्यं", "यन्मनसा न मनुत" इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात् तदुक्तम्—

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता" इति ॥
"स्वयम्प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते" इति च ॥

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति । तथाहि—अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति । तदुक्तम्—

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्" इति ॥

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरःसरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ॥ ॥ ३३ ॥

सारबोधिनी—चैतन्य-प्रतिबिम्बसहिताऽखण्डाकाराकारितचित्त (अन्तःकरण) वृत्त्या प्रत्यक्चैतन्यगताऽज्ञानविनाशानन्तरं प्रत्यगभिन्नमात्रमवतिष्ठते ।

तस्य स्वयंप्रकाशमानत्वात् अन्तःकरणवृत्तौ प्रतिबिम्बितेन चिदाभासेन (तस्य) अवभासो न सम्भवति । तथा-सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुतिस्मृतीनां 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः सह अविरोधोऽपि उपपद्यते । अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासेन अज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्य अज्ञाननिवृत्तिपूर्वकस्य स्वरूपाबोधतात्पर्येण उक्तानां 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां, स्वयं प्रकाशशीलपरब्रह्मणः अन्येन अवभासनाऽयोग्यतया वाङ्मनोबुद्ध्याद्यतीतत्वेन तात्पर्येण उक्तानां यतो वाचो निवर्तन्ते इत्यादिश्रुतिस्मृतीनाञ्च पृथक्तया चरितार्थत्वात् । घट-पटादिवस्तूनि द्रष्टुं नेत्रप्रदीपयोरुभयोः आवश्यकता भवति,तथापि प्रदीपं द्रष्टुं केवलं नेत्रस्यैव आवश्यकता भवति, तद्वदेव अज्ञानावच्छिन्नजीवचैतन्यगतमज्ञानं निवर्त्य ब्रह्ममात्रमवशेषयितुम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारायाः चित्तवृत्तेः तद्गतचिदाभासस्य च उभयोरावश्यकत्वम् । इत्थञ्च अज्ञानलक्षणस्याऽऽवरणस्य अपहरणानन्तरमेव ब्रह्मज्ञानं भवतीति तात्पर्येण उक्तानां 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतीनां चारितार्थ्यम् । अज्ञानलक्षणस्य आवरणस्य अपहरणानन्तरम् अवशिष्टस्य अवाङ्मनसगोचरस्य फलचैतन्यस्य अन्येन अवभासनाऽनर्हतया तत्तात्पर्येण उक्तानां 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतीनां चारितार्थ्यम् । पञ्चदशीकारेणाऽपि अयमभिप्रायः स्पष्टीकृतः ।

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥'
— (पंचद० ७।९०।९२)

अज्ञातचैतन्यस्य वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वं प्रतिषिद्धं भवति । अन्तःकरणवृत्तिः आवरणनिवृत्यर्थम् अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं व्याप्नोति इत्येतद्वृत्तिव्याप्यत्वं स्वीक्रियते । अज्ञानलक्षणावरणभङ्गानन्तरं स्वयम्प्रकाशमानं चैतन्यं फलचैतन्यमित्युच्यते । तस्मिन् फलचैतन्ये निष्फलके चित्तवृत्तिः न व्याप्नोति, आवरणभङ्गस्य प्रागेव जातत्वेन प्रयोजनाभावात् । वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्याभासस्यापि फलचैतन्यप्रकाशकत्वं नेत्यत्रापि सम्मतिमाह—स्वयम्प्रकाशेति । अधुना जडपदार्थविषयाकाराकारितचित्तवृत्तेः ब्रह्माकाराकारितवृत्य-

पेक्षया वैलक्षण्यं प्रदर्शयितुमाह–जडपदार्थेति। 'अहम्ब्रह्मास्मि' इति अज्ञानावच्छिन्नब्रह्माकाराकारितचित्तवृत्तिः, ब्रह्मावरकमज्ञानमात्रं निवर्तयति, ब्रह्म तु स्वयप्रकाशात्मत्वात् स्वयमेव प्रकाशते। न तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासेन चैतन्य प्रकाश्यते, तत्र तस्य असामर्थ्यात्। 'अयं घटः' इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिस्तु घटावच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानं निवर्तयमाना स्वप्रतिबिम्बितचिदाभासेन जडघटमपि प्रकाशयति। अखण्डाकारघटाकारवृत्त्या अयमेवविशेषः। वृत्तिसम्बन्धात् प्राक् घटस्य अज्ञातत्वात् अज्ञातं घटं विषयीकृत्य प्रवृत्ता चित्तवृत्तिः घटगताज्ञानं दूरीकुर्वाणा घटमपि भासयति। अस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिमाह–तदुक्तमिति।

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राऽज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥" इति॥
(प० द० ७।९१)

बुद्धिश्च, तत्र बुद्धौ प्रतिबिम्बितचिदाभासश्च–बुद्धितत्स्थचिदाभासौ, द्वावेतौ =बुद्धिचिदाभासौ, घटं व्याप्नुतः। तत्र=तयोर्मध्ये, धिया=वृत्त्या, घटाऽज्ञानं नश्येत्, चिदाभासेन तु घटः स्फुरेत्। अत्र अनुरूपदृष्टान्तं प्रदर्शयति–यथा दीपेति। यथा अन्धकारे स्थितं घटादिकं विषयीकृत्य प्रवर्तमानः दीपप्रकाशसमूहः घटावरकमन्धकारं निवर्तयति घटञ्चापि प्रकाशयति तद्वदवगन्तव्यम्।३३।

(विमला—ऐसा स्वीकार करने पर (अर्थात् चैतन्य-प्रतिबिम्ब–सहित अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञान का विनाश हो जाता है और प्रत्यगभिन्न परब्रह्म मात्र(कार्यब्रह्म सोपाधिक ब्रह्म) अवशिष्ट रह जाता है और वह स्वयं प्रकाशमान होने के कारण उसे वृत्तिगतचिदाभास (वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य) के द्वारा प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं होती। 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'— (बृहदा० ४।४।१९) 'मनसैवेदमाप्तव्यम्'— (कठ० ४.११, 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव'–(गी० १८।५७), इत्यादिश्रुति-स्मृतियों का 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'–(तैत्ति० २।९।१), 'यन्मनसा न मनुते–'(केन० १।५) 'अनाशिनोऽप्रमेयस्य'— (गी० २।१८) इत्यादि श्रुति–स्मृतियों के साथ विरोध (आपातः प्रतीयमान

विरोध) नहीं रहता, क्योंकि ब्रह्म का चित्तवृत्ति के द्वारा व्याप्त किया जाना वेदान्त ने स्वीकार किया है। किन्तु फल अर्थात् चिदाभास (चित् के प्रतिबिम्ब) के द्वारा ब्रह्म के व्याप्त (प्रकाशित) किये जाने का निषेध किया गया है। (वृत्ति-व्याप्य = वृत्ति का विषय और फलव्याप्य = फल से प्रकाश्य) अर्थात् अन्तः करण की वृत्ति में प्रतिबिम्ब चैतन्य (चिदाभास) के द्वारा अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानावरणनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपज्ञान के तात्पर्य से कही गई 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' आदि श्रुति-स्मृतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं और स्वयं प्रकाश परब्रह्म (कार्यब्रह्म-सोपाधिक ब्रह्म) किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं किया जाता, वह मन वाणी तथा बुद्धि से परे हैं, इस तात्पर्य से कही हुई 'यन्मनसा न मनुते' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं। अर्थात् जिस प्रकार घट-पट आदि जड वस्तुओं को देखने के लिए नेत्र और दीपक दोनों आवश्यक होते हैं किन्तु दीपक देखने के लिए केवल नेत्र (आँख) ही पर्याप्त हैं। उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न जीवचैतन्यगत अज्ञान को हटाकर ब्रह्ममात्र अवशेष रखने के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ब्रह्माकाराकारितचित्तवृत्ति तथा तद्गत चिदाभास दोनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अज्ञानावरण के हट जाने से ब्रह्मज्ञान होता है—इस तात्पर्य से ही 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' यह श्रुति कही गई है और अज्ञानावरण के हट जाने पर जब स्वयं प्रकाशमान चैतन्य (फल चैतन्य) अवशिष्ट रह जाता है तो उसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता, वहाँ किसी की पहुँच नहीं, इस तात्पर्य से 'यन्मनसा न मनुते' यह श्रुति कही गई है। अतः परस्पर विरुद्ध-सी लगने वाली उक्त दोनों श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है। इसी को पञ्चदशीकार ने अपनी पञ्चदशी—(७।९०।९२) में बताया है।

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता॥'
'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते।'

शास्त्रकृद्भिः = शास्त्रकारोंने, अस्य = इस ब्रह्म की, फलव्याप्यत्वम् =

फलव्याप्यता (चिदाभास के द्वारा प्रकाशित किया जाना) एव = ही, निवारितम् = निषिद्ध की है, (किन्तु) ब्रह्मणि = ब्रह्मविषयक, अज्ञाननाशाय = अज्ञान के नाश के लिए, वृत्तिव्याप्तिः = चित्तवृत्ति की व्याप्ति की (चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाना), अपेक्षिता = अपेक्षा ही की है, अर्थात् वृत्तिव्याप्ति का निषेध नहीं किया। (ब्रह्मणः = ब्रह्म के), स्वयम्प्रकाशमानत्वात् = स्वयं प्रकाशमान होने के कारण, आभासः = चिदाभास, न = नहीं, उपयुज्यते = उपयोगी है।

शास्त्रकारोंने ब्रह्म की फलव्याप्यता का ही निराकरण किया है, ब्रह्मगत अज्ञान के नाश के लिए वृत्तिव्याप्ति की तो आवश्यकता ही बताई है। ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण, उसे प्रकाशित करने के लिए चिदाभास का कोई उपयोग नहीं है।

अज्ञात ब्रह्म को विषय करने वाली 'अहं ब्रह्मास्मि'–यह चित्तवृत्ति जब उत्पन्न होती है, तब वह जीव चैतन्य पर पड़े हुए (जीव-चैतन्य को ढकने वाले) अज्ञानावरण को हटा देती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है। इसमें एक दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे मलिन जल को निर्मल करने के लिए कतकचूर्ण (निर्मली का चूर्ण) जल की मलिनता को दूर करके स्वयं भी विलीन हो जाता है।

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत् जलं कतकरेणुवत् ॥

दूसरा दृष्टान्त यह भी है कि अरणि में रहने वाला अग्नि, अरणि से उत्पन्न होकर अरणि के नष्ट हो जाने पर वह स्वयं भी अपने आप बुझ जाती है। उसी प्रकार वृत्ति भी स्वयं नष्ट हो जाती है और उसमें स्थित जो चैतन्यप्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास था, वह स्वयं-प्रकाश शुद्ध चैतन्य का ही अंश होने से उसमें विलीन हो जाता है 'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते'।

परन्तु घट-पटादि जडपदार्थाकाराकारित जो चित्तवृत्ति है उसकी बात उपर्युक्त अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति से कुछ भिन्न है। पहले यह समझ लेना

आवश्यक है कि घटपटादिजडपदार्थाकाराकारित वृत्ति का स्वरूप क्या है। घटपटादिविषयों के आकार में चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण के परिवर्तित हो जाने को ही वृत्ति कहते हैं।

जब 'अयं घटः'=यह घट है अर्थात् घटविषयकज्ञानवान् अहम् इस प्रकार से अज्ञातघटविषयकचित्तवृत्ति उत्पन्न होती है तब वह वृत्ति घटावच्छिन्नचैतन्य (घटगत चैतन्य) को आवृत करने वाले (ढकने वाले) घटविषयकअज्ञान का नाश कर देती है और अपने में (वृत्ति में) वर्तमान चिदाभास (प्रतिफलितचैतन्य) के द्वारा घट को भी प्रकाशित करती है। इसी अभिप्राय को पञ्चदशीकार बता रहे हैं—

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राऽज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्॥

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ=बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास, द्वौ अपि=दोनों ही, घटम्=घट को, व्याप्नुत.=व्याप्त करते हैं, तत्र=उनमें, धिया=बुद्धि (चित्तवृत्ति) के द्वारा, अज्ञानम्=घट विषयक अज्ञान, नश्येत्=नष्ट होता है और आभासेन=चिदाभास के द्वारा, घटः=घट, स्फुरेत्=प्रकाशित होता है।

बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास दोनों ही घट को अपना विषय बना लेते हैं (व्याप्त करते हैं), उनमें से बुद्धि के द्वारा (चित्तवृत्ति के द्वारा) घटविषयक अज्ञान नष्ट होता है, और चिदाभास के द्वारा घट प्रकाशित होता है। जैसे दीपक अन्धकार में स्थित घट आदि पदार्थों के आवरणरूप अन्धकार को नष्ट करके अपने प्रकाश से उन्हें प्रकाशित भी करता है, उसी प्रकार घटपटादि के आकार में परिणत हुई चित्त (अन्तःकरण) वृत्ति घटावच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञानावरण को नष्ट करती है और स्वप्रतिबिम्बित चिदाभास के द्वारा घट आदि को प्रकाशित भी करती है॥ ३३॥

व्युत्पत्तिः—वृत्तिव्याप्ति—वेदान्त में लोकव्यवहारिक ज्ञान की प्रक्रिया यह है कि तालाब का जल, नाली के रास्ते से निकल कर क्यारियों में प्रविष्ट

होता है और उन्हीं क्यारियों के आकार का (गोल, चौकोन, तिकोना या या कमलाकार आदि) बन जाता है। उसी तरह चित्तवृत्ति भी चक्षु आदि इन्द्रियों के रास्ते से निकलकर घट-पट आदि विषयों के देश में पहुँचकर उन्हीं के (घट-पट आदि के ही) आकार की हो जाती है। चित्तवृत्ति के द्वारा घट-पट आदि जडवस्तुओं के आकार में परिणत हो जाना ही वृत्तिव्याप्ति है। घटपटादि जड पदार्थ वृत्ति से व्याप्त अर्थात् वृत्ति के विषय (व्याप्य) हो जाते हैं। उससे तद्विषयक (जडपदार्थ घटपटविषयक) अज्ञान (वृत्ति-सम्बन्ध के पूर्व रहने वाला) दूर किया जाता है।

फलव्याप्ति—चित्तवृत्ति का घट-पट आदि विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर जब वह विषयाकार (घट-पट के आकार की अर्थात् घटाकार-पटाकार) होती है, यानी घट-पट आदि के विषय में व्यक्ति को जो अज्ञान था वह नष्ट हो जाता है तब उस वृत्ति में स्थित चैतन्य (चिदाभास) के द्वारा उन घट-पट आदि विषयों का प्रकाश (स्फुरण) होता है अर्थात् चिदाभास के द्वारा घट पटादि जड विषयों (पदार्थों) के स्फुरण को फलव्याप्ति कहते हैं। उपर्युक्त ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मसाक्षात्कार) की प्रक्रिया से यह समझ में आता है कि ब्रह्मज्ञान होने में वृत्तिव्याप्ति की तो आवश्यकता होती है, क्योंकि उसी से ब्रह्म विषयक अज्ञान दूर होता है, लेकिन ब्रह्म ज्ञान के लिए फलव्याप्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है। अतः चिदाभास के द्वारा उसका प्रकाशित किया जाना कभी सम्भव ही नहीं हो सकता ॥३३॥

स्वरूप चैतन्य के साक्षात्कार तक श्रवणादि साधनों का अनुष्ठान करना अत्यावश्यक है, यह बता रहे हैं—

(साक्षात्कारोपयोगिनां श्रवणादीनां निरूपणम्)

एवम्भूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तोऽपि प्रदर्श्यन्ते। श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्याव-

धारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुन "एकमेवाद्वितीयं" इत्यादौ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनः पुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते। मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। विजातीयदेहादि-

प्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् । समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति । तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् । तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते । तदुक्तम्—

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं
सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं
तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्" इति ॥

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम् । तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते । ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशंका न भवति । उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः ॥ ३४ ॥

सारबोधिनी—एवंविधसाक्षात्कारात्मकानुभवदार्ढ्यपर्यन्तमनुष्ठेयं श्रवणादिसाधनसमूहं प्रदर्शयितुमारभते—एवंभूतेति । श्रुत्या, युक्त्या, अनुभवेन च समस्तोपाधिरहितस्य प्रत्यगभिन्नपरमानन्दचिद्रूपस्य ब्रह्मणः साक्षात्कारपर्यन्तं श्रवण-मननादीनि साधनानि अनुष्ठेयानि । अतः तेऽपि श्रवणादयः प्रदर्श्यन्ते । श्रवणस्य लक्षणमाह—षड्विधेति ।

श्रवणम्—'लीनमर्थं गमयति' इति व्युत्पत्त्या ब्रह्माऽत्मनोः एकत्व-निश्चायकैः उपक्रमोपसंहारादिभिः षड्विधलिंगैः सर्वेषां वेदान्तवाक्यानाम् अद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यविधारणम् श्रवणमित्यर्थः। तानि लिङ्गानि क्रमेण विभजते—उपक्रमेति। तथा चोक्तम्—

"उपक्रमोपसंहाराबभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥" इति ॥

(१) उपक्रमोपसंहारौ तावत् दर्शयति—तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्येति। प्रकरणप्रतिपाद्यं विषयम् आदौ उपक्रम्य (प्रारभ्य) अन्ते तस्यैव उपपादनम्—उपक्रमोपसंहारौ इत्यर्थः। तत्र छान्दोग्यश्रुतिमुदारति—यथेति। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरण-प्रतिपाद्यमद्वितीयं वस्तु 'एकमेवाऽद्वितीयम्'—(छां० ६।८।७) इति आदौ उपक्रम्य, एतदात्म्यमिदं सर्वम् (छां० ६।०।७) इत्येवंरूपेण अन्ते तस्यैव उपपादनम्।

(२) अभ्यासः—अभ्यासस्य लक्षणमाह—पौनः पुन्येनेति। प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अर्थस्य प्रकरणस्य मध्ये असकृत् प्रतिपादनम् अभ्यास इत्यर्थः। तत्र श्रुतिमुदाहरति—यथेति। छान्दोग्ये षष्ठाध्याये अद्वितीयवस्तुनः तत्प्रकरणमध्ये 'तत्त्वमसि' इत्येवंरूपेण नवकृत्वः प्रतिपादनम्।

(३) अपूर्वता—अपूर्वताया लक्षणमाह—प्रमाणान्तरेति। प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराऽविषयत्वम् अपूर्वता, इत्यर्थः। तत्र छान्दोग्यश्रुतिमुदाहरति—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मणः उपनिषन्मात्रवेद्यत्वप्रतिपादनात् ब्रह्मणः अपूर्वता इत्यर्थः। अथवा ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन अतिरिक्तप्रमाणानपेक्षत्वाद् ब्रह्मणः अपूर्वता विज्ञेया।

(४) फलम्—प्रकरणप्रतिपाद्यस्य आत्मज्ञानस्य (ब्रह्मज्ञानस्य) तदनुष्ठा-नस्य वा श्रूयमाणं यत् प्रयोजनं तत् फलम् इत्यर्थः। तत्र श्रुतिमुदाहरति—यथेति। छान्दोग्ये षष्ठाध्याये "आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"—(छा० ६।१४।२) आचार्यवान् पुरुष एव आत्मानं वेत्ति। तस्य तावानेव विलम्बः यावत् स अस्मात् शरीरात् पृथक् न भवति। ततः पश्चात् स ब्रह्मैव ब्रह्मरूप एव भवति। इत्थम् अद्वितीयवस्तुज्ञानस्य

प्रयोजनं तद्भावापत्तिरेवेत्यर्थः ।

(५) अर्थवादः—पञ्चमलिङ्गस्य अर्थवादस्य लक्षणमाह—प्रकरणेति । प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः स्थाने स्थाने प्रशंसनम् अर्थवादः । तत्र श्रुतिमुदाहरति—यथेति । छान्दोग्ये षष्ठाध्याये 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ।' इत्यादौ अद्वितीयवस्तुब्रह्मणः प्रशंसा ।

(६) उपपत्तिः—उपपत्तिं लक्षयति—प्रकरणप्रतिपाद्येति । प्रकरणप्रतिपाद्यविषयं प्रमाणयितुं या युक्तिः उपस्थाप्यते सा उपपत्तिः । तत्र श्रुतिमुदाहरति—यथा सोम्येति । छान्दोग्ये षष्ठाध्याये "सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—(छां० ६।१।४) । जगतो ब्रह्मविवर्तत्वसाधनाय इयं श्रुतिरुपपत्तिः । यथा एकेनैव मृत्पिण्डेन निर्मितं घट-शरावादि वस्तु विकारानुरूपनाममात्रेण भिन्नमपि वस्तुतः मृत्तिकारूपमेवेति सत्यम् । एवमेव इदं सम्पूर्णं नामरूपात्मकं जगत् ब्रह्मणो विवर्तरूपं, नान्यत् इति ब्रह्मविवर्तस्य जगतः गिरि-नदी समुद्रात्मकविकार-नाम-धेययोः वाचारम्भणमात्रत्वात् चिन्मात्रमेव अवशिष्यते, रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रावशेषवत्, अतः तदेव सत्यमिति युक्तिः (उपपत्तिरित्यर्थः) ।

मननम्—श्रवणनिरूपणानन्तरं तदुत्तराङ्गस्य मननस्य लक्षणमाह—मननं त्विति । षड्विधलिङ्गतात्पर्यज्ञानपूर्वकं वेदान्ताऽविरोधिनीभिः युक्तिभिः पूर्वश्रुतस्य अद्वितीय-ब्रह्मणः निरन्तरमनुचिन्तनं मननमित्यर्थः ।

निदिध्यासनम्—निदिध्यासनलक्षणमाह—विजातीयेति । विजातीय-देहादिबुद्ध्यन्तजडपदार्थेषु तद्भिन्नता (ब्रह्मभिन्नता) निराकरणपूर्वकं सर्वत्राऽद्वितीयब्रह्मैक्यप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनमित्यर्थः ।

समाधिः—व्युत्थानसंस्कारस्य अभिभवे निरोधसंस्कारस्य च प्रादुर्भावे सति ध्येयरूपे चित्तस्य निश्चलतया अवस्थानम् अर्थात् चित्तस्य एकाग्रतापरिणामः समाधिरित्यर्थः । स च समाधिः द्विविधः—(१) सविकल्पकः (२) निर्विकल्पकश्च । तत्र सविकल्पकस्य लक्षणमाह—तत्रेति । तत्र तयोः

सविकल्पकनिर्विकल्पकयोर्मध्ये सविकल्पकोऽपि द्विविधः। 'अहं ब्रह्मास्मी'ति शब्दानुविद्धतया अद्वितीये वस्तुनि चित्तवृत्तेः स्थितिरित्येकः। द्वितीयस्तु ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयेति त्रिपुटीभेदभानपूर्वकम् अहं ब्रह्मास्मीति तदाकाराकारितायाः चित्त-वृत्तेः अद्वितीयवस्तुनि अवस्थानम्। ननु समस्तभेदनिरसनपुरःसरमद्वैतवस्तुमात्र-भानार्थमेव उक्तसमाध्योः प्रवर्तनम्, किन्तु तदवस्थायामपि (समाध्यवस्थाया-मपि) ज्ञात्रादिभेदभाने अद्वैतवस्तुसिद्ध्यभावः, तदा समाधेः क उपयोगः? इति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः इत्याशङ्क्य उत्तरमाह—तदेति। तदा सविकल्पकसमाध्यनुभवकाले ज्ञात्रादिभेदभानस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् अद्वैत-मेव वस्तु भासते, यथा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानं भवति, तद्वदवगन्तव्यम्।

अथवा—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिबलात् सर्वमहमिति गिरिनदीसमुद्रात्मकं सर्वं जगत् स्वाऽभिन्नसच्चिदानन्दब्रह्मरूपेण अनुभूय तस्य दग्धपटन्यायेन प्रपञ्चभानेऽपि अद्वैतं सच्चिदानन्दलक्षणं वस्तु भासत एवेत्यर्थः। तदुक्तं भगवता—"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति। ग्रन्थकारोऽपि अस्मिन्नर्थे ग्रन्थान्तरसम्मतिम्प्रदर्शयति—तदुक्तमिति। यत् साक्षिस्वरूपम्, यच्च आकाशवत् सर्वत्र व्याप्तम्, एवं सर्वथा निर्लिप्तम्, यच्च सर्वदा एकरूपेणैव अवभासमानम्, न चन्द्रादिप्रकाशवत् कदाचित् क्षीणप्रकाशं कदाचिच्च अधिकप्रकाशम्, यच्च न कदापि जायते, यच्च अक्षरम्; अविनश्वरम्, एवम् अलेपकम् अविद्यादिदोषरहितम्, यच्च सर्वगतम् सर्वत्र वर्तमानम् एवं सजातीय-विजातीयभेदशून्यम्, यच्च सर्वथा कार्य-कारणोपाधिविनिर्मुक्तम्, एवं निरतिशयानन्दरूपं यत् परं ब्रह्म (ॐ) तत् अहम् इत्यभिप्रायः। अत्र यथा परमात्मनः भिन्नभिन्नोपाधीनां निर्देशेऽपि वस्तुतः सर्वोपाधयः एकस्यैव परब्रह्मणः विभिन्ननामानि इति तदेकत्वं न विरुध्यते, तथैव सविकल्पकसमाधौ ज्ञात्रादिभेदभानेऽपि तत्सर्वमद्वैतं ब्रह्मैवेति भिन्नताया-मपि एकताया एव अनुभवे अद्वैतस्य भानं न विरुध्यत इत्यभिप्रायः।

निर्विकल्पकः—निर्विकल्पकसमाधिस्वरूपमाह—निर्विकल्पकस्त्विति। अयं च द्विविधः—चिरकालाभ्यस्तश्रवणाद्युत्तरसविकल्पकसमाधेः अनुभवजनि-

संस्कारसहकृताया। चित्तवृत्तेः ज्ञात्रादित्रिपुटीलयपूर्वकम् अद्वैते वस्तुनि एकभावनारूपः प्रथमः। एतन्निर्विकल्पकसमाधेः अभ्यासपाटवेन लुप्तसंस्कारतया ज्ञात्रादित्रिपुटीलयपूर्वकम् अखण्डाकाराकारिताया चित्तवृत्तेः, विनापि स्वस्फूर्ति केवलचिदानन्दात्मना अवस्थानात्मको द्वितीयः। तत्र द्वितीयं पक्षमभिप्रेत्य आह—ज्ञातृज्ञानादीति। अत्र ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभेदभावभानस्य अभाव इति अद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितचित्तवृत्तेः अत्यन्तमेकीभावेन अवस्थानम्। अर्थात् दीर्घतराभ्यासवशात् अस्मिन् समाधौ संस्कारा नश्यन्तीति ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभेद-भावलोपेन अस्मिन् समाधौ अद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्तिरपि न पृथक् अवभासते, अपितु अद्वितीयवस्तुमात्रमेव अवभासते। यथा जलाकाराकारितलवणस्य न पृथगवभासः अपितु जलमात्रस्यैव अवभासः तद्वदवगन्तव्यमित्यर्थः।

ननु समाधिसुषुप्त्योः विज्ञेयाभावेन वृत्त्यभानात् अभेदमाशंक्य परिहरति-ततश्चेति। तत्र युक्तिमाह—उभयत्रेति। समाधिसुषुप्त्योः उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि समाधौ जलाकाराकारितलवणमिव अद्वितीयवस्तुनि अतितरामेकीभावेन अनवभासमानायाः वृत्तेः सद्भावात्, सुषुप्तौ च वृत्तेः सर्वथैव अभावात् समाधिसुषुप्त्योः भेदोपपत्तेः॥ ३४॥

विमला—स्व-स्वरूप-चैतन्य (ब्रह्म) के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि का अभ्यास करना नितान्त अपेक्षित है, अतः उन्हें बता रहे हैं।

श्रवण—उपक्रमोपसंहारादि छह प्रकार से लिङ्गों की सहायता से समस्त वेदान्त वाक्यों का एक अद्वितीय ब्रह्म (वस्तु) में ही तात्पर्य का निश्चय करना 'श्रवण' है।

छः लिंग—"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥"

(१) उपक्रम और उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद, (६) उपपत्ति।

(१) उपक्रमोपसंहार—प्रकरण में प्रतिपादन किये जाने वाले विषय

के आदि और अन्त का अच्छी तरह उपपादन करना 'उपक्रमोपसंहार' है। जैसे—छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में—अद्वितीय वस्तु प्रतिपाद्य विषय है। उसका प्रतिपादन करते हुए आदि (आरम्भ में 'एकमेवाऽद्वितीयम्' एकमात्र अद्वितीय (सत् ही था) ऐसा उपक्रम किया और 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सम्पूर्ण प्रपञ्च इस (सत्संज्ञक) आत्मा से आत्मवान् है—यह कहकर प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार (समाप्ति) किया गया है।

(२) अभ्यास—प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ (वस्तु) का प्रकरण के बीच में (मध्य में) पुनः पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे—छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में ही अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के बीच 'तत्त्वमसि' वह तू है—का नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

(३) अपूर्वता—प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु को बताने वाले किसी अन्य प्रमाण का न होना अपूर्वता है। क्योंकि मीमांसा तथा वेदान्तदर्शन ने शास्त्र को अज्ञात का ज्ञापक होना माना है 'अज्ञात-ज्ञापकं शास्त्रम्'। केवल तर्क से ब्रह्म की सिद्धि (ब्रह्मज्ञान) नहीं हो सकती, ब्रह्मज्ञान कराने में एकमात्र उपनिषद् ही समर्थ है। यही उसकी अपूर्वता है। जैसे—छान्दोग्य उपनिषद् में ही 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" श्रुति के द्वारा बताया गया है कि एकमात्र उपनिषद् से ही ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है अर्थात् अन्य कोई प्रमाण ब्रह्म ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। अतः यह अपूर्वता है। आचार्य पुरुष ही आत्मा को जानता है। उसे तभी तक विलम्ब है जब तक कि वह इस देह से पृथक् नहीं हो जाता, उसके पश्चात् तो वह ब्रह्म ही हो जाता है।

(४) फल—प्रकरण में प्रतिपादन किये जाने वाले आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का यत्र-तत्र श्रूयमाण जो प्रयोजन है वह फल है। जैसे—वहीं पर "आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इस प्रकार अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) के ज्ञान के प्रयोजन, के रूप में अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति बताई गई है।

(५) अर्थवाद—प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु की, स्थान-स्थान पर जो प्रशंसा

की गई है, वह अर्थवाद है। जैसे वहीं पर "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं, अविज्ञातं विज्ञातम्।" क्या तुमने अपने आचार्य से उस आदेश-प्रश्न को पूछा ? अर्थात उस समस्त प्रपञ्च के अधिष्ठानरूप ब्रह्म के स्वरूप को पूछा, जिसके श्रवण से न सुना हुआ भी समस्त प्रपञ्च सुना हुआ हो जाता है। और जिस ब्रह्मज्ञान के होने से अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्म की प्रशंसा की गई है।

(६) उपपत्ति—प्रकरणप्रतिपाद्य विषय (वस्तु) को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए स्थान-स्थान पर जो युक्ति दी जाती है, वह उपपत्ति है। जैसे वहीं पर इस जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करने के लिए "सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—हे सौम्य ! एक मिट्टी के गोले को जान लेने पर मिट्टी की समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् मिट्टी के एक गोले से बनी हुई घट, शराब आदि सब वस्तु मृत्तिका रूप ही है। विकार (कार्य) तो कहने के लिए नाममात्र है अर्थात् उनके नाम पृथक्-पृथक् हैं। यदि उनके नाम, रूप को त्याग दिया जाय तो सब मृत्तिका ही है, और वही सत्य है। इसी प्रकार यह सब नाम रूपात्मक जगत्, ब्रह्म का विवर्तमात्र है। केवल नाममात्र के लिए पहाड़, नदी, मनुष्य, पशु आदि भेद है। वास्तव में समस्त प्रपञ्च, ब्रह्मरूप होने से एक ब्रह्म मात्र ही सत्य है, अन्त में एक वही शेष रह जाता है। इन युक्तियों से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) की सत्यता प्रदर्शित की गई है। विकार (कार्य) तो वाणी से कहने के लिए है, यह युक्ति बताई गई है।

मनन—गुरूपदेश के द्वारा जो श्रवण किया है अर्थात् उपनिषद् प्रतिपादित विषयों का जो श्रवण किया है उसका तात्पर्य षड्विध (छह प्रकार के) लिङ्गों से समझकर वेदान्तानुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन करते रहना ही मनन है।

निदिध्यासन—देह से लेकर बुद्धि तक जितने भी भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थ हैं उनके सम्बन्ध में होने वाले विचारों को छोड़कर सबमें एकमात्र

ब्रह्मविषयक विश्वास करना अर्थात् विजातीय (बेमेल) विचारों को छोड़कर अद्वितीय वस्तु के सजातीय (अनुकूल) विचारों को मन में सोचते रहना निदिध्यासन है।

समाधि—ध्येय में चित्त की निश्चल स्थिति को समाधि कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक। उनमें पहली को सम्प्रज्ञात और दूसरी को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

(१) सविकल्पक समाधि—सविकल्पक समाधि की अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इनका अलग-अलग ज्ञान होते हुए भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति रहती है। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प (विभाग) बने रहते हैं, उनकी समाप्ति (लय) नहीं होती तथापि ब्रह्माकार चित्तवृत्ति हो जाती है। ध्येयाकार चित्तवृत्ति का हो जाना ही सविकल्पक समाधि है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि समाधि में तो सभी भेद दूर होकर अद्वैत ब्रह्म मात्र का ही भान होते रहना चाहिए। यदि समाधिदशा में भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भासित होता रहे तो समाधि से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि सविकल्पक समाधि की अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भासित होने पर भी अद्वैत वस्तु का उसी प्रकार भान होता है जैसे मिट्टी के बने हुए हाथी आदि में मिट्टी और हाथी दोनों का भान होते रहने पर भी यह हाथी मिट्टी ही है, हाथी तो केवल व्यवहार चलाने के लिए नाम मात्र है। उसी प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद भान तो वाचारम्भण मात्र है, किन्तु तद्गत अद्वैत का भान ही वास्तविक है। इसी अभिप्राय को उपदेशसाहस्री में बताया है—

''दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्॥'' इति॥

यत्=जो चैतन्य, दृशिस्वरूपम्=साक्षित्वरूप है, गगनोपमम्=आकाश के समान (सर्वव्यापक), परम्=मायातीत, सकृद्विभातम्=सर्वदा एक समान प्रकाशित होने वाला, तु=और, अजम्=जन्मरहित, एकम्=एक अर्थात् सजातीय

तथा विजातीय भेदों से रहित, अक्षरम् = अविनाशी; अलेपकम् = अविद्यादि-दोषों से रहित, सर्वगतम् = सबमें अनुस्यूत, अद्वयम् = अद्वय (अस्ति = है,) तत् = वह, एव = ही, अहम् = मैं हूँ, (अतः = इसलिये), सततम् = सर्वदा, विमुक्तम् = विमुक्त, (अस्मि = हूँ) ॥

(उदेपशसा० १०।२।७३)

जो चैतन्य साक्षिस्वरूप है, आकाश के समान (सर्वव्यापक) है, माया से परे है, हमेशा (तीनों कालों में सभी अवस्थाओं में) एक समान प्रकाशित होने वाला है, (चन्द्र आदि के प्रकाश के समान जिसका तेज कभी कम या अधिक नहीं होता है,) जन्म रहित है, एक अर्थात् सजातीय-विजातीय भेदों से रहित है, अविनाशी है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता, अविद्यादिदोषों से रहित, सबमें अनुस्यूत, अद्वय, (इसलिए) सदा विमुक्त है अर्थात् कार्य–कारणात्मक उपाधि से सर्वथा मुक्त है, इस प्रकार का निरतिशयानन्दस्वरूप जो परब्रह्म (ॐ) वह मैं ही हूँ। यहाँ पर यद्यपि परमात्मा की भिन्न-भिन्न उपाधियों का निर्देश किया गया है, तथापि वह निर्देश नाम मात्र के लिए है। वास्तव में एक ही परब्रह्म के भिन्न-भिन्न सब नाम हैं। उसी प्रकार सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता का जो भान होता है वह नाम मात्र है। वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब अद्वैत ब्रह्म ही हैं। इस प्रकार अनेकता (भिन्नता) में भी एकता (अभिन्नता , अद्वैत) का भान (प्रतीति) होता है।

(२) निर्विकल्पक समाधि– इस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रतीत नहीं होता। अर्थात् इन तीनों का विभाग विलीन हो जाता है। और अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में ही अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति की अत्यन्त एकता हो जाती है अर्थात् अद्वैत ब्रह्म के रूप में ही उसकी स्थिति रहती है। तात्पर्य यह है कि दीर्घ काल के अभ्यास से इस समाधि में उस वृत्ति के संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं यानी ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जैसे पानी में नमक अच्छी तरह घुल जाने पर वह पानी से पृथक् (अलग) प्रतीत नहीं होता बल्कि जलाकार (पानी के आकार का) ही हो जाता है अर्थात् जल

मात्र ही भासित होता है। उसी तरह ब्रह्माकार हुई चित्तवृत्ति का अलग से भान नहीं होता, बल्कि ब्रह्म ही भासित होता रहता है। अब एक प्रश्न उठ सकता है कि निर्विकल्प समाधि में वृत्ति का भान नहीं होता और सुषुप्ति में भी वृत्ति का भान नहीं होता तब दोनों (निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति) में क्या भेद है ? दोनों को एक-सा ही समझना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनों में वृत्ति का भान न होने पर भी समाधि में वृत्ति रहती है किन्तु जल में घुल गये नमक के समान ब्रह्म में उस वृत्ति की तन्मयता (तदाकारता) हो जाने के कारण वह वृत्ति अलग से भासित नहीं होती, लेकिन सुषुप्ति में वृत्ति ही नहीं रहती। क्योंकि सुसुप्ति अवस्था में वह अज्ञान में ही विलीन हो जाती है। अर्थात् चित्तवृत्ति की सत्ता (अस्तित्व) सुषुप्ति में नहीं रहती। और समाधि में चित्तवृत्ति की सत्ता तो रहती है किन्तु उसका निरोध हो जाने के कारण उसका भान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि समाधि में चित्तवृत्ति के रहने पर भी उसके निगृहीत हो जाने से उसका भान नहीं होता, और सुषुप्ति में चित्तवृत्ति का अज्ञान में विलय हो जाने से उसकी सत्ता ही नहीं है, यही दोनों अवस्थाओं (समाधि और सुषुप्ति) में भेद है। यही बात माण्डूक्यकारिका (३।३५) में कही गई है—'लीयते ही सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते' ॥ ३४ ॥

व्युत्पत्तिः—सविकल्पक समाधि—इसमें साधक को यह भान रहता है कि (१) मैं ज्ञाता हूँ, (२) ब्रह्म ज्ञेय है, (३) ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार भेद का भान रहते हुए भी ब्रह्माकार को धारण करने वाली अपनी चित्तवृत्ति को वह पुनः पुनः ब्रह्म में स्थिर करता रहता है।

निर्विकल्पक समाधि—इसमें ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान का भेद नहीं रहता, केवल ज्ञेय वस्तु (ब्रह्म) ही भासित होती रहती है। चित्तवृत्ति तो ज्ञेय (ब्रह्म) स्वरूप ही हो जाती है। जैसे जलगत लवण, जलाकार ही हो जाता है। उसी तरह वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है।

निर्विकल्पक—समाधि और सुषुप्ति में भेद—

समाधि में चित्त की वृत्ति निरुद्ध रहती है, उसकी सत्ता समाप्त नहीं

होती। किन्तु सुषुप्ति में वृत्ति का अज्ञान में विलय होने से उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाती है। यही दोनों में भेद है ॥ ३४ ॥

निर्विकल्पक समाधि के आठ अंगों का निरूपण कर रहे हैं—

(समाधिसाधनानां निरूपणम्)

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"। "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव ॥ ३५ ॥

सा० बो०—उक्तसमाधेः साधनापेक्षायामाह—अस्यांगानीति। साधनानां नामानि क्रमेणाह-यमेति। इमानि यमाद्यष्टाङ्गानि तत्रान्तिमानि त्रीणि समाधेरन्तरङ्गसाधनानि सन्ति। यमस्य लक्षणमाह—तत्रेति। साधक निषिद्धेभ्यः कर्मभ्यो यमयन्ति नियमयन्ति इति यमाः। तेषु यमाद्यष्टांगेषु मध्ये अहिंसादयः पञ्च यमाः अवश्यमनुष्ठेयाः। तत्र अहिंसा—वाङ्मनःकायैः प्राणिपीडापरिहारोऽहिंसा। सत्यम्—यथार्थभाषणम्। अस्तेयम्—अदत्तस्य परवस्तुनः अनादानम्। ब्रह्मचर्यम्—अष्टविधमैथुनवर्जनम्, तथा चोक्तम्—"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥"—(दक्षसं० अ० ७) अपरिग्रहः—सांसारिकवस्तुनः असंग्रहः। नियमान् आह—शौचेति। जन्महेतुभूतान् काम्यधर्मान् निवर्त्य मोक्षसाधके

निष्कामधर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्ति इति शौचादयो नियमाः । ते शौचादयः पञ्च नियमा अवश्यमनुष्ठेयाः । शौचम्—शौचं तु द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च, तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्, आन्तरं भावशुद्धिरूपम् । तदुक्तम्— "शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥' (याज्ञव० गी० १।६९) । सन्तोषः—भगवदिच्छया प्राप्ते सन्तुष्टिः अलाभे च अविषादः । तपः—कामानशनम् । स्वाध्यायः—प्रणवजपः उपनिषद्ग्रन्थावृत्तिश्च । ईश्वर-प्रणिधानम्—ईश्वरस्य मानसैरुपचारैरभ्यर्चनम् । आसनं लक्षयति—करेति । आस्यते स्थीयते अनेन प्रकारेण इत्यासनम्, स्थितिविशेषः । पद्मासन-स्वस्तिकासनादीनि कार्याणि । प्राणायामलक्षणमाह—रेचकेति । रेचकः—प्राणवायोः शनैः शनैर्वामनासापुटात् दक्षिणनासापुटाद् वा सव्यापसव्यन्यायेन बहिर्निःसारणम्, पूरकः—तस्य तथैवान्तःप्रवेशनम्, कुम्भकस्तु—पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोधः इतिभेदः । प्रत्याहारः—श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः शब्दादिभ्यः सकाशात् पाषाणोपरि प्रयुक्तशरसंघात इव प्रत्यावर्तनम् । धारणा—अद्वितीये वस्तुनि चित्तनिक्षेपणम्, धारणाभ्यासाभावेन चित्तस्थैर्याभावात् । ध्यानम्—अद्वितीये वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य चित्तवृत्ति-प्रवाहीकरणम् । समाधिः—अद्वितीये वस्तुनि निरन्तरं चित्तवृत्तिप्रवाहीकरणम्, अयं समाधिः सविकल्पक एवं बोद्धव्यः । समाधेर्ध्यानस्य च भेदं द्योतयितुं विच्छिद्य विच्छिद्येत्युक्तम् ॥ ३५ ॥

विमला—इस निर्विकल्पक समाधि के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

(१) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच हैं ।

(२) नियम—पवित्रता (शौच), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं ।

(३) आसन—हाथ पैरों को एक विशेष प्रकार से स्थित करना । जैसे पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि ।

(४) प्राणायाम—इसमें रेचक (वाम या दक्षिण नासापुट से वायु को

बाहर निकालना) पूरक (किसी नासापुट द्वारा वायु को ऊपर खींचना), कुम्भक (खींची हुई वायु का अवरोध करना) के द्वारा प्राण वायु का निग्रह किया जाता है। प्राण वायु को वश में करने के ये रेचक, पूरक, कुम्भक उपाय हैं।

(५) प्रत्याहार—इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटा लेना।

(६) धारणा—अन्तःकरण (चित्त) को अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में लगा देना।

(७) ध्यान—चित्तवृत्ति को अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में बार-बार लगाते रहना।

(८) समाधि—यह सविकल्पक समाधि है, इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से भेदावभासपूर्वक ब्रह्माकाराकारितचित्तवृत्ति की स्थिति रहती है ॥ ३५ ॥

निर्विकल्पक समाधि में होने वाले चार विघ्नों का निरूपण कर रहे हैं—

(विघ्नचतुष्टय-निरूपणम्)

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा ॥ ३६ ॥

सारबोधिनी—उक्तयमाद्यष्टाङ्गसहितं निर्विकल्पकसमाधिमनुतिष्ठतः साधकस्य यदा अतिवृष्ट्यनावृष्टिराष्ट्रविप्लव-व्याघ्र-चोर-ज्वराद्युपद्रवविघ्ना अपि सम्भवन्ति, तदा तन्निवृत्तिः लोकावगतसाधनावलम्बनेन कर्तव्या। किन्तु यदा

मनसि एव विघ्नाः प्रादुर्भविष्यन्ति, तदा तन्निवारणोपायमुपदेष्टुकामः तत्रत्यान् विघ्नान् निर्दिशति—अस्येति। तत्र चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। तत्राद्यं विघ्नं लक्षयति—लय इति। तत्र लयो द्विविधः—तत्र दीर्घकालं यावत् अष्टाङ्ग-सहितस्य निर्विकल्पकसमाधेः दृढाभ्यासेन प्रतप्तलोहतले निक्षिप्त—तोयबिन्दुवत्, स्नेहरहित-दीपकलिकावच्च प्रत्यगभिन्ने परमानन्दे ब्रह्मणि चित्तवृत्तेर्लयः प्रथमः। द्वितीयवस्तु—मूर्च्छावस्थावत् आलस्येन चित्तवृत्तेः बाह्यविषयग्रहणानादरे सति प्रत्यगात्मस्वरूपस्य अनवभासनात् वृत्तेः स्तब्धीभावलक्षणनिद्रारूपः। तत्र प्रथममङ्गीकृत्य द्वितीयस्य विघ्नत्वेन तत्त्यागाय तत्स्वरूपमाह—अखण्डेति। द्वितीयं विघ्नमाह—अखण्डेति। अखण्डवस्तुग्रहणार्थं अन्तर्मुखतया प्रवृत्तायाः चित्तवृत्तेः अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन त्रस्तखगवत् पुनर्बाह्यविषयग्रहणाय प्रवृत्तिः विक्षेपः। रागादयस्त्रिविधाः—बाह्या, आभ्यन्तरा, वासनामात्ररूपाश्च। बाह्याः पुत्रादिविषयाः। आभ्यन्तरा मनोराज्यादयः। संस्काररूपा वासनामयाः। तत्र अनेकजन्मसु अभ्यस्तबाह्याभ्यन्तररागादीनामनुभवोत्पन्नसंस्कारैः कलुषीकृतं चित्तं कथञ्चित् श्रवणादिसाधनेन अन्तर्मुखमपि चैतन्य-ग्रहणे शक्त्यभावात् मध्ये एव स्वब्ध भवति। यथा राजदर्शनाय स्वगृहान्निर्गत्य राजमन्दिरे प्रविष्टस्य कस्यचित् पुरुषस्य द्वारपालनिरोधेन स्तब्धीभावः, तथा परित्यक्त-बाह्यविषयस्य अखण्डवस्तुग्रहणाय प्रवृत्तस्य उद्बुद्धरागादिसंस्कारैः स्तब्धीभावात् अखण्ड-वस्तुनः अग्रहणं कषायः। चतुर्थं विघ्नमाह—अखण्डेति। द्विविधयोः सविकल्पकसमाध्योर्मध्ये द्वितीयः शब्दाऽननुविद्धः त्रिपुटीविशिष्टः, तस्मिन् यः आनन्दः बाह्यशब्दादिविषयप्रपञ्चभारत्यागप्रयुक्तः, न तु चैतन्यप्रयुक्तः तमेवा-नुभवन् आनन्दो भवति। यथा निधिग्रहणाय प्रवृत्तस्य निधिरक्षकभूतप्रेतादिभिः आवृतस्य निधिप्राप्त्यभावेऽपि भूताद्यनिष्टनिवृत्तिमात्रेण कोऽपि महान् आनन्दो भवति, तथा सविकल्पकसमाधौ अखण्डवस्तुनः अनवलम्बनेन नित्यानन्दरसा-स्वादनाभावेऽपि अनिष्टबाह्यप्रपञ्चनिवृत्तिजनितमानन्दं सविकल्पकरूपं ब्रह्मा-नन्दभ्रमेण आस्वादयति, तदेव रसास्वादनम्। लक्षणान्तरमाह—समाध्या-रम्भेति। निर्विकल्पकसमाधेः प्रारम्भकाले अनुभूयमानं सविकल्पकानन्दं त्यक्तुमसमर्थतया पुनस्तस्यैव आस्वादनं रसास्वादः॥ १६॥

विमला--निर्विकल्पकसमाधि की साधना करते समय साधक के समक्ष चार विघ्न हुआ करते हैं। (१) लय, (२) विक्षेप, (३) कषाय, (४) रसास्वाद।

(१) लय--आलस्य के कारण शब्दादि बाह्य विषयों की ओर भी चित्तवृत्ति की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, वह उन विषयों की उपेक्षा करती है, इधर वह अन्तर्मुख भी नहीं हो पाती जिससे प्रत्यगात्म चैतन्य का अवभास नहीं होता। अर्थात् वृत्ति बिलकुल स्तब्ध (निवृत्त-सी) हो जाती है, किंकर्तव्य-विमूढ हो जाती है। इसी स्तब्धता को लय कहते हैं। यह ब्रह्म प्राप्ति में विघ्नरूप है।

(२) विक्षेप--अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) को ग्रहण करने के लिए जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होती है, किन्तु वह उसे पाती नहीं, तो पुनः बाह्य वस्तुओं के ग्रहण करने लिए वह प्रवृत्त हो जाती है, यही विक्षेप है।

(३) कषाय--लय और विक्षेप (संज्ञक विघ्नों) के न होने पर भी अर्थात् इन दो विघ्नों की उपस्थिति न होने पर भी राग अर्थात् सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण आदि वासनाओं (संस्कारों) के कारण चित्तवृत्ति स्तब्ध (जड-किंकर्तव्यविमूढ़) हो जाती है, जिससे अखण्ड वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता। उसका ग्रहण न कर पाना ही कषाय है।

(४) रसास्वाद--अखण्ड वस्तु की प्राप्ति से होने वाली परमानन्द की प्राप्ति न होने पर भी अनिष्ट बाह्य प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाने के कारण ब्रह्मानन्द (परमानन्द) के भ्रम से चित्तवृत्ति सविकल्पक समाधि के आनन्द का अनुभव (आस्वादन) करने में लग जाती है। सविकल्पक समाधि के इस आनन्दानुभव को ही रसास्वाद कहते हैं। अथवा निर्विकल्पक समाधि के आरम्भ में जो सविकल्पक समाधि के आनन्द का अनुभव (आस्वादन)' उसे रसास्वाद कहते हैं ॥ ३६ ॥

विघ्न रहित हुए चित्त की स्थिरतारूप समाधि का निरूपण कर रहे हैं—

(निर्विकल्पक-समाध्यवस्था-निरूपणम्)

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचल

सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा, तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥
न स्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति।
"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" इति च॥३७॥

सारबोधिनी—उपर्युक्तैश्चतुर्भिर्विघ्नैः रहितं चित्तं वायुरहितस्थानस्थितदीपक इव निश्चलं सत् अखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते, सैव निश्चलावस्थितिः चित्तस्य निर्विकल्पकसमाध्यवस्था निगद्यते। अर्थात् लयादिविघ्नचतुष्टयाभावेन चित्तस्य ज्ञेये वस्तुनि यत् नैश्चल्यं तदेव निर्विकल्पकसमाधिस्वरूपम्। लयादिविघ्नसद्भावे तन्निवृत्तिप्रकारे च गौडपादसम्मतिमाह—तदुक्तमिति।

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति।
"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" इति च॥ ३३॥

पूर्वोक्तनिद्रालक्षणे लये प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं चित्तगतजाड्यापनोदनपूर्वकं तदुत्साहयेत्। विक्षेपरूपविघ्ने समुपस्थिते च चित्तस्य बाह्यप्रवणतां विषयवैराग्यादिना निगृह्य अन्तःप्रवणञ्च तत् कृत्वा धैर्यावलम्बनेन पुनः अद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यात्। कषायरूपविघ्ने उपस्थिते विजानीयात्—कलुषितं मे चित्तम्, इयं रागादिवासना बाह्यविषयप्रापिका, अतस्तया न अखण्डवस्तुनः प्राप्तिर्भविष्यतीत्यवधार्य चित्तमन्तर्मुखं (प्रत्यक् प्रवणं) कुर्यात्। एवं कृते सति यदा चित्तं शमं प्राप्नुयात् तदा तच्चित्तं तस्मात् न विचालयेत्। अपितु तत्रैव स्थिरीकुर्यात्। रसास्वादलक्षणे विघ्ने समुपस्थिते तं विषयप्रपञ्चभारत्यागजन्यं सविकल्पकरसं नानुभवेत्। तदानन्दमात्रेण आत्मानं कृतार्थं न मन्वीत, किन्तु

प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या निःसंगः अर्थात् प्रापञ्चिकसुखदुःखादिविरहितः सन् सविकल्पकानन्दे अनासक्तो (स्थितप्रज्ञो) भवेत् । तदुक्तं भगवता—

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥"

—(गी० २।५५)

अनेन प्रकारेण लयादिविघ्नचतुष्टयरहितस्य चित्तस्य अखण्डैकरसे चिन्मात्रे अवस्थितिः निर्विकल्पकसमाधिरिति ज्ञेयम् । एतदेव भगवद्वाक्योदाहरणेन प्रदर्शयति—यथा दीप इति । निवातस्थः अन्तर्गृहस्थो दीपो यथा नेंगते न चलति तथा ब्रह्मणि स्थापितं ब्रह्मविच्चित्तं न चलति, ब्रह्मण्येव ब्रह्मात्मना निश्चलीभूय तिष्ठति, अयमेव असम्प्रज्ञातः समाधिः ॥ ३७ ॥

विमला—पूर्वोक्त लय-विक्षेपादि चारों विघ्नों से रहित हुआ चित्त, वायु-रहित प्रदेश में रखे हुए दीपक के समान चञ्चलता रहित होकर अखण्ड चैतन्य ब्रह्म में ही स्थिर रूप से स्थित हो जाता है तभी उसकी वह समाधि अवस्था कहलाती है । इस समाधि अवस्था की प्राप्ति के निमित्त गौडपादाचार्य ने विघ्नों को दूर करने के उपाय बताये हैं—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति ।

—(गौडपा० कारि० ३।४४,४५)

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ॥" इति च ।

—(गी० ६।१९)

अन्वितार्थ— लये=लय की अवस्था में, चित्तम्=चित्त को, सम्बोधयेत्=जगाना चाहिये, विक्षिप्तम्=ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य विषयों में आसक्त हुए, (चित्त को) पुनः=बार-बार, शमयेत्=शान्त करना चाहिए, सकषायम्=कषाय अर्थात् रागादि वासना से स्तब्ध हुए (चित्त को), विजानीयात्=विशेष रूप से पहचान लेना चाहिए, शमप्राप्तम्=शान्त हुए, (चित्त को)

न = नहीं, चालयेत् = विचलित करना चाहिए, तत्र = उस समय, रसम् = रस अर्थात् सविकल्पक समाधि के आनन्द को, न = नहीं, आस्वादयेत् = अनुभव करे, प्रज्ञया = विवेक बुद्धि से (उससे), निःसङ्गः = अनासक्त, भवेत् = होना चाहिए, यथा = जैसे, निवातस्थः = वायुरहित स्थान में घर के भीतर रखा हुआ, दीपः = दीपक, न = नहीं, इङ्गते = काँपता है, सा = वही, उपमा = समानता, (योगी के समाधिमग्नचित्त की) स्मृता = बताई गई है।

अखण्ड वस्तु में जब चित्तवृत्ति को लगाने का प्रयत्न करते हैं तब 'निद्रा रूप लय' नाम का विघ्न उपस्थित होता है तो उसे नष्ट करने के लिए चित्त को बार-बार उत्साहित करते हुए जागरित करे। जब 'विक्षेप रूपी विघ्न' उपस्थित हो तब चित्त को विषय-वैराग्यादि के द्वारा शान्त करे और धैर्य के साथ उसे पुनः 'अद्वितीय चैतन्य' में लगाने का प्रयत्न करे। जब 'कषाय रूपी विघ्न' उपस्थित हो तो यह सोचे कि ये रागादि वासनाएँ बाह्य विषयों की ओर ले जाने वाली हैं, उससे अखण्ड वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए रागादि वासना का परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार सोचने पर जब चित्त रागादि वासनाओं की ओर से शान्त हो जाय और अखण्ड वस्तु की ओर लगने लगे, तब उसे वहीं पर स्थिर रखने का प्रयत्न करे, वहाँ से उसे विचलित न करे। उस समय साधक प्रापञ्चिक-विषय-त्यागजन्य सविकल्पक-समाधि के रस से अपने को कृतार्थ न समझे, किन्तु विवेक बुद्धि से काम ले, और सविकल्पक समाधि के आनन्द में आसक्त न रहे। इस प्रकार लय आदि चार विघ्नों से रहित चित्त की चिन्मात्रावस्थिति को निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। इस स्थिति में स्थित हुए चित्त की उपमा निर्वातस्थल में स्थित दीपक से दी गई है॥ ३७॥

व्युत्पत्ति—कषाय—इस अवस्था तक प्राप्त हुए साधक योगी की राग, द्वेषादि भावनायें समाप्त हो चुकी रहती हैं, तथापि प्राचीन संस्कारों के कारण चोरों की तरह राग-द्वेषादि का आना जाना होता रहता है।

प्रज्ञया भवेत्—निर्विकल्पक समाधि के साधक योगी का चित्त सविकल्पक

समाधि के आनन्द के प्रति जाने को बार-बार उत्सुक रहता है, किन्तु साधक उसे (चित्त को) उधर न जाने दे। उस समय उसे प्रज्ञा से युक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ होकर रहना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि पुरुष जब मनोगत समस्त विषय भोगेच्छाओं का परित्याग करता है और अपने आप में (स्व स्वरूप में) जब संतुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

आत्मसाक्षात्कार (ब्रह्मज्ञान) हो जाने पर अविद्या और उसका कार्य (प्रपञ्च) पूर्णरूप से समाप्त (नष्ट) हो जाता है। उसी समय यदि योगी का देहपात हो जाय तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म के कारण उसका देहपात यदि उस समय (आत्मसाक्षात्कार होते ही) नहीं हो पाया तो वह योगी प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक शरीर धारण किये रहता है। उस अवस्था में भी वह संसार-बन्धनों से मुक्त ही रहता है, तब उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ३७ ॥

जीवन्मुक्त का स्वरूप बता रहे हैं—

(जीवन्मुक्तलक्षणम्)

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तद्ज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबाधरहितो ब्रह्मनिष्ठः।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" ॥

इत्यादिश्रुतेः ॥ ३८ ॥

सारबोधिनी—एतत् समाधिद्वयं जीवन्मुक्तस्यैव सम्भवति, नान्यस्येति हृदि कृत्वा आदौ जीवन्मुक्तस्वरूपं निरूपयितुं प्रतिजानीते—अथेति। अथ साधननिरूपणानन्तरम्। जीवन्मुक्तस्य लक्षणमाह-जीवन्मुक्तो नामेत्यादिना ब्रह्म-

निष्ठ इत्यन्तेन । गुरूपदेशेन, श्रुतिवाक्येन, स्वानुभवेन च जीव-ब्रह्मैक्यस्य ज्ञान भवति, तादृशेन ज्ञानेन आत्मगताऽखिलाऽज्ञानं नश्यति, तदा अखण्डब्रह्मणः साक्षात्कारो जायते । तस्यामवस्थायां मूलभूतमज्ञानम्, तत्कार्यभूतानि सञ्चित-कर्माणि संशय-विपर्ययादयश्चापि नश्यन्ति, इति परित्यक्ताऽखिलबन्धनस्य आत्मनो ब्रह्ममात्रे स्थितिर्भवति, एवं भूतो ब्रह्मनिष्ठ एव जीवन्मुक्त इत्युच्यते । जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुख-दुःखादिधर्माः क्लेशदायकत्वेन बन्धन-स्वरूपा एवेति तेषु विनष्टेषु विमुक्तसमस्तबन्धनस्य तस्य ब्रह्ममात्रे निष्ठा अव-तिष्ठते, अत एवंभूतस्य ब्रह्मनिष्ठस्य जीवन्मुक्त इति सज्ञा समुचितैव । तत्त्वसाक्षा-त्कारानन्तरं मुक्त एव भवतीत्यत्र प्रमाणमाह—भिद्यत इति ।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
—(मुण्ड० उ० २।२।८)

अनया श्रुत्या ब्रह्मसाक्षात्कारदशा निरूपिता—आत्मतत्त्वे साक्षात्कृते सति हृदयग्रन्थिः अहंकारः चिज्जडात्मकत्वात् ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः । बुद्धिस्थिताऽविद्या वासनामय कामनादि विनश्यति, सर्वसंशयाः ज्ञेयपदार्थविषयकसमस्ताः सन्देहाः विनश्यन्ति, अखिल-संशयनिवृत्तौ अस्य आत्मनः सर्वकर्माणि, ज्ञानोत्पत्तिपूर्व-जन्मान्तरकृतान्यपि अद्यावधि अफलोन्मुखानि तथा ज्ञानोत्पत्त्या सह कृतानि कर्माणि सर्वाणि नश्यन्ति । तस्मिन् असंसारिणि परावरे सर्वात्मके, अत्र सर्वा-त्मकत्ववचनं तद्व्यतिरिक्तस्य अभावपरम् । अथवा कारणरूपेण परे कार्यरूपेण च अवरे एव परावरे 'अयं साक्षात् अहमेव' इत्थं साक्षात्कृते सति जीवन अपि पुरुषः मुक्तो जायते । जीवन्मुक्तिपक्षे अस्यात्मनः कर्माणि प्रारब्धातिरिक्तानि सञ्चितानि क्रियमाणानि च क्षीयन्ते । परममुक्तिपक्षे प्रारब्धसहितान्यपि क्षीयन्ते ॥ १८ ॥

विमला—जीवन्मुक्त का लक्षण—गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य, तथा अपने अनुभव से आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान जब हो जाता है, तब उस ज्ञान से आत्मविषयक सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है, और अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इस दशा में मूल अज्ञान और उसके कार्यरूप

स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रपञ्च, सञ्चित कर्म अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व अनारब्ध फलवाले कर्म, संशय अर्थात् देह से अतिरिक्त ब्रह्मस्वरूप आत्मा है या नहीं। अथवा ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्ष होगा या नहीं इस प्रकार की विचिकित्सा। विपर्यय—देहादिकों में आत्माभिमानरूप। आदि शब्द से बाह्य प्रपञ्च में सत्यत्व बुद्धि। ये सब जिसके नष्ट हो जाते हैं, उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिए। यह अवस्था स्व-स्वरूपभूत अखण्डब्रह्म के साक्षात् करने पर ही होती है। उस साक्षात्कार का उपाय है—स्व-स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान। तात्पर्य यह है कि समस्त बन्धनों से रहित हो जाने से केवल ब्रह्म में ही तत्पर रहने वाले ब्रह्मनिष्ठ को ही जीवन्मुक्त कहते हैं।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

अन्वितार्थ—तस्मिन्=उस, परावरे=कारण-कार्यरूप (ब्रह्म के); दृष्टे=साक्षात् कर लेने पर अर्थात् ज्ञात होने पर, अस्य=इस जीवन्मुक्त के हृदय-ग्रन्थिः=हृदय की गाँठ, भिद्यते=खुल जाती है, सर्वसंशयाः=सम्पूर्ण सन्देह, छिद्यन्ते=कट जाते हैं, च=और, कर्माणि=(सञ्चित-क्रियमाण-कर्म) क्षीयन्ते=नष्ट हो जाते हैं।

उस कारण कार्यरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर साधक की हृदय-ग्रन्थि (अहंकार) खुल जाती है, सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जाते हैं, और प्रारब्ध कर्म छोड़कर सञ्चित तथा क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। (मुण्ड० २।२।८) तत्त्व साक्षात्कार होने पर वह मुक्त ही होता है॥

व्युत्पत्ति-कर्मः-कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) सञ्चित, (२) प्रारब्ध, (३) क्रियमाण। सञ्चित कर्म वे हैं, जिनका फल-भोग मिलना अभी आरम्भ नहीं हुआ है, आगे प्रारम्भ होने वाला है। प्रारब्ध कर्म वे हैं, जिनका फलोपभोग मिलना आरम्भ हो गया है। क्रियमाण कर्म वे हैं, जो किये जा रहे हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा ब्रह्मज्ञान होने पर सञ्चित तथा क्रियमाण कर्म तो नष्ट

हो जाते हैं, लेकिन प्रारब्ध कर्मों को तो भोगना ही पड़ता है—"प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेव क्षयः" वे भोगने से ही नष्ट हो पाते हैं ।। ३८ ।।

जीवन्मुक्त पुरुष लौकिक व्यवहारों को करता है या नहीं ?

(जीवन्मुक्तस्य कर्मफलबन्धो नास्तीतिनिरूपणम्)

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनापिपासा-शोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रिय-माणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति । यथेन्द्रजाल-मिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति । "स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव" इत्यादिश्रुतेः । उक्तं च---

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ।। इति ।। ३९ ।।

सारबोधिनी—ननु जीवन्मुक्तः स्वीयशरीरेन्द्रियादिभिर्व्यवहारं करोति न वा ? व्यवहरति चेत् बद्ध-मुक्तयोः को भेदः ? न व्यवहरति चेत् शरीरेन्द्रिया-दीनामनुपयोगात् सद्योविनाशप्रसङ्गः इति सन्देहनिरासार्थमाह—अयं त्विति । अयं जीवन्मुक्तः जाग्रदवस्थायां मांस-रुधिर-मल-मूत्रादीनां पात्रेण अनेन शरीरेण, अन्धत्व-बधिरत्वादिभाजनेन बाह्येन्द्रियसमूहेन, क्षुत्-पिपासा-शोक-मोहादि-पात्रेण अन्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि प्रारब्धकर्मणा-

मुपभुज्यमानानि फलानि च साक्षितया कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानहीनः अन्यदृष्ट्या पश्यन्निव भासमानोऽपि वस्तुतः स्वदृष्ट्या न पश्यति, यतो तत्त्वज्ञानेन कर्तृत्वाद्यभिमानमूलभूतस्य अज्ञानस्य विनष्टत्वात्। बद्धपुरुषापेक्षया जीवन्मुक्तस्यायमेव विशेषः। यथा इदमिन्द्रजालमिति ज्ञानवान् जनः तत् पश्यन्नपि परमार्थमेतदिति बुद्ध्या न पश्यति। न व्यवहरतीतिद्वितीयपक्षे यथा बलवता पुरुषेण प्रेरितो बाणः पाषाणो वा वेगक्षयं यावत् न पतति, तथैव प्रवृत्तफलकर्माधीनस्य (प्रारब्धकर्माधीनस्य) शरीरस्य (देहस्य) शीघ्रनाशः (सद्यः पातः) न सम्भवति। जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादिभिः व्यवहरन्निव दृश्यमानोऽपि न परमार्थतः व्यवहरतीत्यत्र श्रुतिम्प्रमाणयति—स चक्षुरचक्षुरिवेति। चक्षुरादिमानपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनात् चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः।

आदिपदात् "तदेजति तन्नैजति"—(ईशा० उ० ५) इत्यादि श्रुत्यन्तरपरिग्रहः। उक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसम्मतिम्प्राह—उक्तं चेति।

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥" इति।

—(उपदे० सा० ८५।१०।१३)

यः कोऽपि महापुरुषः ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारेण निरस्तसमस्तभेदबुद्धिः सुषुप्तावस्थायां यथा द्वैतं न पश्यति, तथा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिदार्ढ्येन जाग्रदवस्थायामपि द्वैतं न पश्यति, तस्य दृष्ट्या ब्रह्मव्यतिरिक्तजडपदार्थाभावात् स तथोक्तः। कदाचित् व्युत्थानदशायां आविद्यकसंस्कारलेशवशात् भिक्षाटनादिव्यवहारेण द्वयं पश्यन् अपि समाध्यभ्याससामर्थ्यवशात् अद्वयत्वेन पश्यति स च तथोक्तः। यश्च लोकसंग्रहार्थं नित्यादिकर्माणि कुर्वन्नपि आत्मनि कर्तृत्वाभावनिश्चयेन निष्क्रियः कर्मरहितो भवति कर्मफलेन न लिप्यते, स जीवन्मुक्तो नात्रसंशयः कर्तव्यः। इह जगति स एव आत्मवित् नान्यः 'इति मे निश्चयः॥ उपदे० सा० ८५।१०।३ ॥ ३९ ॥

विमला—प्रपञ्चासक्त साधारण आदमियों को सन्देह होता है कि जीवन्मुक्त कहा जाने वाला योगी अपनी देह तथा इन्द्रियों से लोकव्यवहार करता है या नहीं ? यदि व्यवहार करता है तो बद्ध कहलाने वाले प्रपञ्चासक्त साधारण आदमी में और जीवन्मुक्त योगी में कोई अन्तर (भेद) ही नहीं है। और यदि अपनी देह तथा इन्द्रियों से किसी प्रकार का लोकव्यवहार नहीं करता है तो उसका तत्काल ही अर्थात् तत्त्वज्ञान होते ही शरीरपात हो जाना चाहिए। इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि व्युत्थान दशा (जागरित अवस्था) में तो वह जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए भी संसार से मुक्त) मांस-रक्त-मल-मूत्रादि के पात्रभूत इस शरीर (देह) से, तथा अन्धत्व, बधिरत्व आदि के भाजन (पात्र) बाह्य इन्द्रिय समुदाय से, तथा भूख (अशनाया), प्यास (पिपासा), शोक, मोह आदि के पात्र इस अन्तःकरण से जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों (वासनाओं) के कारण किये जाते हुए (क्रियमाण) कर्मों को तथा प्रारब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी (करता हुआ, फलोपभोग करता हुआ भी) वस्तुतः उसी प्रकार नहीं देखता, जैसे जादू का खेल देखने वाला व्यक्ति उस खेल को यह वास्तविक नहीं है, यह तो जादू है ऐसा समझने के कारण उसे देखता हुआ भी, नहीं देखता है अर्थात् उसे वास्तविक (सच) नहीं समझता है। उसी प्रकार यह जीवन्मुक्त भी क्रियमाण कर्मों के तथा प्रारब्ध कर्मों के फलों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अभिमान नहीं रखता, क्योंकि ज्ञान के द्वारा उसका अज्ञान नष्ट हुआ रहता है। अतः उस जीवन्मुक्त को बद्ध के समान समझना भूल होगी। तत्त्वज्ञान होने पर भी शरीर पात न होने का कारण यह है कि किसी बलवान् के द्वारा फेके गये बाण में जब तक वेग रहता है तब तक वह (बाण) नहीं गिरता, उसी प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्म का फल भोग होता रहता है तब तक उसके शरीर का विनाश नहीं होता। इसी बात को श्रुति भी बता रही है—"सचक्षुरचक्षुरिव, सकर्णोऽकर्ण इव" नेत्ररहित होने पर भी नेत्र वाले के समान और श्रोत्ररहित होने पर भी श्रोत्रवाले के समान व्यवहार करता है। उपदेशसाहस्री में भी जीवन्मुक्त का लक्षण—

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥

पद्य के द्वारा बताया है। जाग्रत अवस्था में द्वैत भान होते हुए भी सुषुप्तावस्था में अद्वैत भान के समान वास्तविक रूप में (उस द्वैत को) नहीं देखता, और कर्म करते हुए भी कर्तृत्वाभिमान न होने से वह निष्क्रिय रहता है। अपने को ऐसा समझने वाला ही वास्तविक आत्मवित् है, दूसरा नहीं। यह निश्चित है ॥ (उपदे० सा० १०।१३)

अन्वितार्थः— यः=जो, जाग्रति=जागरित अवस्था मे, द्वयम्=द्वैत को; पश्यन्=देखता हुआ, अपि=भी, अद्वयत्वतः=अद्वैत बुद्धि के कारण, सुषुप्तवत्=निद्रित व्यक्ति के समान, न=नहीं, पश्यति=देखता है, तथा च=और उसी प्रकार, कुर्वन्=कर्म करता हुआ, अपि=भी, यः=जो, निक्रियः=कर्म रहित (रहता है), सः=वह, आत्मवित्=आत्मज्ञानी, अन्यः=दूसरा, न=नहीं, इति=यह, इह=वेदान्त शास्त्र में, निश्चयः=निश्चय है ॥ ३६ ॥

व्युत्पत्ति—जीवन्मुक्त तथा बद्धसंसारी में अन्तर—जीवन्मुक्त और बद्धसंसारी दोनों के शरीर, इन्द्रियाँ दैनिक कार्यकलाप भी, फलभोग भी प्रायः एक-से ही दिखलाई पड़ते हैं, तथापि जीवन्मुक्त की किसी दैनिक कार्यकलाप में आसक्ति नहीं रहती, वह निर्लिप्त रहता है। किन्तु बद्धव्यक्ति आसक्ति के साथ कर्म करता है, वह उन कर्मों में लिप्त रहता है। कर्म-फलों के भोगने में उसे हर्ष विषाद होते रहते हैं, किन्तु जीवन्मुक्त को फल भोग के समय हर्ष-विषाद नहीं हुआ करता। वह फलों को निर्विकार भाव से भोगकर अपने प्रारब्ध कर्मों को नष्ट कर देता है।

अशनाया, पिपासा—अशनाया (भूख) और पिपासा (प्यास) को प्राणों का कार्य पहिले बताया था। अब अन्तःकरण का कार्य बता रहे हैं। या तो इसे सांख्य का प्रभाव समझिए (सा० का० २९) या अन्तस्त्व की समानता की दृष्टि से भी कहा जा सकता है ॥ ३९ ॥

जीवन्मुक्त को पुण्य-पाप का लेप न हो सकने से क्या वह यथेष्ट आचरण भी कर सकता है ?

(जीवन्मुक्तस्य शुभकर्माचरणमेवेति निरूपणम्)

अस्य अज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा । तदुक्तम्---

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥ इति ॥
ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥ इति ॥४०॥

सारबोधिनी—ननु असौ जीवन्मुक्तः इति कथमन्यैर्ज्ञायते इति तदाह—अस्येति । अथवा जीवन्मुक्तस्य योगीश्वरस्य मम पुण्य-पापलेपो नास्तीत्यभिमानवशात् यथेष्टाचरणप्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति—अस्येति । अस्य जीवन्मुक्तस्य तत्त्वज्ञानात् प्रागेव शान्ति-सन्तोषादिशुभगुणैः अशुभकर्मवासना निवार्यते, अतो यथा संसारदशायां यदृच्छालब्धेषु अनुकूलेषु आहारादिषु प्रवृत्तिरासीत् तद्वदेव तत्त्वज्ञानोत्तरमपि शुभानामेव वासनानामनुवृत्तिर्भवति न अशुभानाम् । एवञ्च शुभकर्म स्वत एव सम्पद्यते, तेन न यथेष्टाचरणप्रसंगः । ननु शुभवासनानुवृत्तेरपि प्रयोजनाभावात् किं तदनुवृत्त्या ? इत्यत आह—शुभाशुभयोरिति । शुभाऽशुभयोरुभयोः औदासीन्यं तस्य भवति, अन्यथा शास्त्रविहितं शुभमेव आचरतो न साधकाद्भेदः स्यात् । औदासीन्यमुपेक्षा अर्थात् न तस्य विधिपरतंत्रप्रवृत्तिः न वा निषेधातिक्रमः । अशुभकर्मणि तस्य न कथमपि प्रवृत्तिरिति जीवन्मुक्तस्य न कथमपि यथेष्टाचरणप्रसंगः सम्भवति । ननु विधिनिषेधशास्त्रपरवशत्वं मुक्तस्य न चेत् तर्हि यथेष्टाचरणं प्राप्नोति इत्याशंकां नैष्कर्म्यसिद्धिवाक्येन प्रत्याचष्टे—तदुक्तमिति । "शुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि । शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥" (नैष्क० सि०

४।६२) इति। येन अद्वैततत्त्वं यथार्थतया समवगतं, तस्यापि यदि स्वेच्छाचरणं चेत् तर्हि अपवित्रपदार्थभक्षकस्य कुक्कुरस्य जीवन्मुक्तमहापुरुषस्य चोभयोः को विशेषः स्यात् ? जीवन्मुक्तस्य ब्रह्मज्ञानित्वाभिमानो न भवतीत्यत्रापि सम्मतिमाह—ब्रह्मवित्त्वमिति। "ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतर।" इति।—(उपदे० सा० ११५-१२।१३) ब्रह्मविदहमिति गर्वं त्यक्त्वा आत्मनः अकर्तृत्वं यो जानाति स एव आत्मज्ञः, नाऽन्यः ॥ ४० ॥

विमला—शंका—यदि जीवन्मुक्त, दैनिक कर्मों को करता हुआ भी स्वयं को अकर्ता समझता है अर्थात् अपने को पुण्य-पाप का भागी नहीं समझता, तब तो वह शुभ-अशुभ किसी प्रकार के भी कर्म अपनी इच्छानुसार कर सकता है, क्योंकि वह अपने को उनका कर्ता समझता ही नहीं, इस कारण उसे पुण्य-पाप का भी कोई भय नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वैरा (स्वेच्छा) चारी नास्तिक और जीवन्मुक्त योगीश्वर में क्या अन्तर है ?

समाधान—इस जीवन्मुक्त योगीश्वर की अशुभ वासनायें, ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व से ही पवित्रता, शान्ति, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि अनेक गुणों के अपनाने के कारण नष्ट हो जाती हैं। अतः ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व संसारी दशा में जैसे वह यदृच्छालब्ध नियमित पवित्र आहारादि शुभ संयत आचरण करता हुआ सन्तुष्ट रहता था, तथा प्रापंचिक-विषय प्राप्ति के लिए कभी प्रयत्नशील नहीं रहता था, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के अनन्तर अर्थात् जीवन्मुक्त दशा में भी शुभ वासनाएँ ही उसमें अनावृत्त होती रहती हैं, जिनसे उसकी प्रवृत्ति शुभकर्मों में ही होती रहती है, अशुभ कर्मों में उसकी प्रवृत्ति कभी नहीं होती।

शंका—यदि जीवन्मुक्त शास्त्रविहित शुभ आचरण ही करता है तो एक साधक में और जीवन्मुक्त हुए में क्या अन्तर रहेगा ?

समाधान—जीवन्मुक्त शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से उदासीन रहता है। अर्थात् यदि उसकी प्रवृत्ति हुई तो शुभ कर्म की ओर ही होगी, अन्यथा शुभाशुभ दोनों से ही उदासीनता रहेगी। किन्तु अशुभ कर्मों की ओर तो उसकी प्रवृत्ति कभी होगी ही नहीं। नहीं तो अज्ञानी और ज्ञानी में

अन्तर ही क्या रहेगा ? नैष्कर्म्यसिद्धिकार जीवन्मुक्त के संयत आचरण की ओर संकेत कर रहे हैं—

"बुद्धाऽद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥" इति

—(नैष्कर्म्यसि० ४।६२)

अन्वितार्थ—बुद्धाऽद्वैतसतत्त्वस्य=जिसने यथार्थ रूप से अद्वैततत्त्व को जान लिया है ऐसे महापुरुष का, यदि=यदि, यथेष्टाचरणम्=स्वेच्छानुसार आचरण, (हो तो), शुनाम्=कुत्तों (कुक्कुर), च=और, तत्त्वदृशाम्=तत्त्वज्ञों (के बीच), अशुचिभक्षणे=अपवित्र पदार्थों के भक्षण करने में, भेदः एव=अन्तर ही, कः=क्या (रहेगा), जिस महापुरुष ने अद्वैत-तत्त्व को पूर्णरूप से जान लिया है, उसका भी यदि स्वेच्छाचरण रहे, तो अपवित्र पदार्थों के भक्षण करने के कारण उसमें और कुत्ते में क्या भेद रहेगा ? क्योंकि कुत्ता भी अपवित्र भक्षण करता रहता है, और यह भी वैसा ही करे तो दोनों को तुल्य ही कहना होगा ।

शंका—जीवन्मुक्त को अपने ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान होता है या नहीं ?

समाधान—उपदेशसाहस्रीकार कहते हैं—

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥ इति ।

(उपदे० सा० ११५, १२।१३)

जीवन्मुक्त को अपने ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान (गर्व) नहीं होता । क्योंकि अभिमान तो अज्ञान का कार्य है । अज्ञान और अज्ञान कार्य के नष्ट हो जाने पर ही ब्रह्मज्ञान होता है, तब जीवन्मुक्त को ब्रह्मज्ञानी होने का अभिमान कैसे होगा ? अर्थात् उसे किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं होता ।

'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ" इस अभिमान को उसी प्रकार त्यागकर वह आत्मज्ञानी होता है, दूसरा कोई नहीं ।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि स इमाँल्लोकान्

न हन्ति न निबध्यते ॥" (गी० १८।१७) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के यथेष्टाचरणपरक वाक्य उपलब्ध होते हैं, तथापि उनका तात्पर्य विद्वान् की स्तुति करने में ही है; यथेष्टाचरण का विधान करने में नहीं। क्योंकि नैष्कर्म्यसिद्धिकार कहते हैं—

"अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः।
धर्मकार्ये कथं तत् स्याद् यत्र धर्मो विनश्यति॥"
—(नैष्कर्म्यसि० ४।६३) ॥ ४० ॥

व्युत्पत्तिः—शुभाशुभयोरौदासीन्यम्—औदासीन्य का अर्थ उपेक्षा करना है। 'हिंसानुग्रहयोरनारंभो—न हिंसा करना और न अनुग्रह करना—(गौ० ध० सू० ३।२४।२५), तथा महाभारत में भी कहा है—

निराशिषमनारंभं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
—महा० भार० १२।९४३० (अ० २६४)।

तथा सुरेश्वराचार्य के वार्तिक में भी पृ० १८१७ पर ॥ ४० ॥

निरभिमानित्वादिगुण जीवन्मुक्त के साधन न बनकर अलंकार बन जाते हैं।

(अमानित्वादिगुणानामलङ्कारत्वनिरूपणम्)

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालंकारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्---

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥ इति॥ ४१॥

सारबोधिनी—ननु अविद्याकार्यत्वात् यथेच्छाचरणस्य अविद्यानिवृत्त्या तन्निवृत्तिवत् 'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्' (गी० १३।७) तथा 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'—(गी० १२।१३), इति स्मृत्युक्तस्य अमानित्वाऽद्वेष्टृत्वा-

दिगुणसमूहस्यापि अविद्याकार्यत्वाऽविशेषात् निवृत्तिरेव स्यात्, न तेषामनुवृत्तिरित्याशंक्य नियोगवशात् अनुवृत्त्यभावेऽपि निवृत्तिशास्त्रेण अविरुद्धस्वभावत्वात् तेषां न निवृत्तिरिति प्रदर्शयति--तदानीमिति । जीवन्मुक्तावस्थायाममानित्वाद्वेष्टृत्वादिसम्पादनस्य च विविदिषासन्न्यासविषयत्वात्, विदुषां तु लक्षणत्वेन अलङ्कारवत् स्वत एव तेषां गुणानामनुवृत्तिर्भवति । अत्र वार्तिककारवचनमुदाहरति—तदुक्तमिति ।

"उत्पन्नात्मायबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥" इति ।

—(नैष्कर्म्यसि० ४।६९)

अस्य विद्वत्सन्न्यासिनो जीवन्मुक्तस्य अद्वेष्टृत्वादयो गुणा अप्रयत्नेनैव स्वत एव भवन्ति, न तु साधनरूपिणः तं प्रति ते साधनरूपा भवन्ति । यतः उत्पन्नः आत्मावबोधः जीव-ब्रह्मैक्यनिश्चयरूपः, यस्य तस्य ते गुणाः लक्षणत्वेनैव परिचायकत्वेनैव तिष्ठन्ति ॥ ४१ ॥

विमला— जीवन्मुक्ति की अवस्था में ज्ञान प्राप्ति के साधन कहलाने वाले निरभिमानिता, किसी से भी द्वेष न रखना आदि सद्गुण इस विद्वान् संन्यासी जीवन्मुक्त योगीश्वर के साधन नहीं होते, क्योंकि वे तो ज्ञान प्राप्ति के साधन होते हैं । ज्ञान प्राप्ति होने के अनन्तर ही तो यह जीवन्मुक्त हो पाया है, अब इसे कुछ प्राप्तव्य नहीं है, अतः वे गुण इसके साधन न होकर इस जीवन्मुक्त के वे गुण अलंकार की तरह अनुवर्तन करते हैं । अर्थात् अलंकार जैसे शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे वे सद्गुण इस जीवन्मुक्त की शोभा बढ़ाते हैं । वार्तिककार सुरेश्वराचार्य अपनी नैष्कर्म्यसिद्धि में कहते हैं—

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥"

—(नैष्कर्म्यसि० ४।६९)

अन्वितार्थ —उत्पन्नात्मावबोधस्य = आत्मज्ञानी, अस्य = इस जीवन्मुक्त के, अद्वेष्टृत्वादयः = द्वेष न करना, आदि, गुणाः = गुण, अयत्नतः = बिना प्रयत्न के ही, भवन्ति = होते हैं, न तु = न कि, साधनरूपिण = साधन-रूप, भवन्ति = होते हैं।

आत्मज्ञानसम्पन्न इस योगीश्वर में पूर्वावस्था के साधनरूप अद्वेष्टृत्व, अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुण अनायास ही यावज्जीवन स्थिर रूप से रहते हैं ॥ ४१ ॥

व्युत्पत्ति—अलङ्कारवदनुवर्तन्ते–दयालुत्व, अदम्भित्व, अमानित्व आदि सद्गुण जीवन्मुक्त योगीश्वर के स्वाभाविक गुणों के समान ही हो जाते हैं। उनके सम्पादन के लिये उसे प्रयास नहीं करना पड़ता ॥ ४१ ॥

(उपसंहारः)

किं बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादानामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" "अत्रैव समवलीयन्ते" "विमुक्तश्च विमुच्यत" इत्यादिश्रुतेः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्द-

विरचितो वेदान्तसारः समाप्तः ॥

सारबोधिनी—एतावता विरचितेन निबन्धेन प्रतिपादितेऽस्मिन् वेदान्त-सार-संज्ञके प्रकरणग्रन्थे योगीन्द्रेण सदानन्दयतिना 'वेदान्तो नाम' इत्यारभ्य साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य प्रमातुः अधिकारिणो मूलभूतस्य अज्ञानस्य निवृत्तिपूर्वकं परमानन्दावाप्तिसिद्ध्यर्थं प्रतीयमानस्य आविद्यकस्य सम्पूर्णप्रपञ्चसमूहस्य ब्रह्मणि अध्यारोपापवादपूर्वकं विस्तरेण निष्प्रपञ्चत्वं प्रतिपाद्य तत्साधनञ्च श्रवणादिकं सप्रपञ्चमभिधाय तस्यैव अधिकारिणः तत्त्वमस्यादिमहावाक्यश्रवणा-नन्तरं जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कारेण निरस्त-समस्त-भेदबुद्धेः जीवन्मुक्तत्वम्प्रदर्शितम्। एतावतैव कार्यसिद्धेः किमधिकं पल्लवितेनेति हृदिकृत्वा अधुना अस्यैव जीव-न्मुक्तस्य स्वप्रकाशात्मनन्दानुभवैकनिष्ठस्य भेदप्रतीत्यभावेऽपि अविद्या-संस्कार-वशात् प्रारब्धं कर्म भुञ्जानः भिक्षाटनादि—जीवनयात्रामात्रक्रियाविशिष्टो ब्रह्मी-भूतः एवावतिष्ठते इति उपसंहरति—किं बहुनेति। प्रारब्धं त्रिविधम्—(१) स्वेच्छाकृतं, (२) परेच्छाकृतम्, (३) अनिच्छाकृतञ्चेति। तत्र स्वेच्छाकृतं भिक्षाटनादिकम्। परेच्छाकृतं—समाध्यवस्थायां शिष्यादिभिः दीयमानमन्नादिकम्। अनिच्छाकृतं—समाध्यवस्थायां व्युत्थानदशायां वा आकाशफलपातवत् अकस्मात् जायमानं पाषाणपतन-कण्टकवेधादिकम्। स चायं जीवन्मुक्तः प्रोक्तत्रिविधप्रारब्धपातितं सुख-दुःखमनुभवन् बुद्ध्यादिसाक्षितया सर्वावभासकः सन् भोगेन आरब्धकर्मक्षये सति प्रत्यगभिन्नपरमात्मनि प्राणादि-लयानन्तरं निरस्ताऽविद्यकसंस्कारः कृतकृत्यः सन् विगलितसकलभेदप्रतिभासः ब्रह्मैव अवतिष्ठते इति सम्पूर्णश्रुतिरहस्यतात्पर्यम्। इत्थं जीवन्मुक्तस्य बुद्ध्याद्यु-पाधिविनाशे घटाद्युपाधिविनिर्मुक्ताकाशवत् तस्य 'मुक्त' इति संज्ञा जायते। इत्थं विनष्टोपाधेः जीवन्मुक्तस्य सूक्ष्मशरीरं (लिङ्गशरीरं) प्रतप्तलौहे प्रक्षिप्त-जलकण इव प्रत्यगभिन्नपरमात्मनि एव विलीयते। अतस्तस्य स्थूलशरीरं न ततः कथमपि चेष्टते। अनेन प्रकारेण विनष्टतदानीन्तनशरीरः भवत्येव स्थूलशरीरा-तिरिक्तः। भाविदेहबन्धनात् सः विशेषेण मुक्तो भवति। तथा च श्रुतिः—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"—(बृह० उ० ४।४।६) अयं जीवन्मुक्तः जीवन्नेव दृश्यमानात् रागद्वेषादिबन्धनात् विशेषेण मुक्तः सन् वर्तमानदेहपाते

सति भाविदेहबन्धनात् विशेषेण मुच्यते, इत्यत्रापि श्रुतिम्प्रमाणयति—"विमुक्तश्च विमुच्यते"—(कठ० उ० ५।१) पूर्वमपि मुक्त एव सन् अविद्याप्रत्युपस्थापित-नामरूपोपाधिरूपाऽविवेकनिबन्धनस्य संसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्य-परमानन्दाद्वयप्रत्यग्ब्रह्मरूपः अहमस्मि इति अपरोक्षज्ञानात् विलयापेक्षया विमुच्यते । वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः । तथा च श्रुतिः—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥"
(गौडपा० का० २।३२)

अयं जीवन्मुक्तः बुद्ध्याद्युपाधिनाशे सति घटाद्युपाधिविनिर्मुक्ताकाशवत् मुक्त इत्युपचार-व्यवहारभाग् भवति, बुद्धत्वस्यापि अवास्तवत्वात् ॥ ४२ ॥

डॉ० श्रीगजाननशास्त्रिविरचिता मुसलगाँवकरोपनामक
वेदान्तसारस्य 'सारबोधिनी' व्याख्या समाप्ता ।

विमला—योगीन्द्र सदानन्द यति ने इस वेदान्तसार नामक प्रकरण ग्रन्थ में 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' से प्रारम्भ कर यहाँ तक यह बताया कि वेदान्तविद्या का अधिकारी वही हो सकता है कि सबसे पहिले साधनचतुष्टय से युक्त होना चाहिये, तदनन्तर मूलाज्ञान की निवृत्ति होगी, तब परमानन्दप्राप्ति के लिये अध्यारोपापवाद न्याय से यह बताया कि यह सब प्रपञ्च अविद्या से उत्पन्न होता है। उस अविद्या के विनाशार्थ श्रवण, मनन आदि साधनों का विस्तार से निरूपण किया। तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के उपदेश से जीव-ब्रह्म की एकता का ज्ञान होता है, उससे सम्पूर्ण भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है। तब समझना चाहिये कि अविद्या नष्ट हो गई। उसके नष्ट होने पर ही 'जीवन्मुक्त' यह संज्ञा उसे प्राप्त होती है। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझकर ग्रन्थकार कहते हैं कि वह जीवन्मुक्त, इस अवस्था में आत्मा के अनुभव करने में ही तत्पर रहता है। उसमें किसी

प्रकार की भी भेद-बुद्धि नहीं रहती। फिर भी वह शरीर चलाने मात्र के लिये भिक्षाटनादि, स्वेच्छाकृत तथा समाधि दशा में शिष्यादिकों के द्वारा दिये हुए अन्नादि, परेच्छाकृत उसी प्रकार जागरित अवस्था में या समाधि अवस्था में अकस्मात् कण्टकादि लग जाने रूप अनिच्छाकृत—इन तीन प्रकार के प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न सुख-दुःखों का अनुभव करता हुआ भी अपनी ज्ञानदृष्टि से सब बातों को अवास्तविक रूप में देखता है। भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तब प्रत्यगभिन्न परमात्मा में ही उसके प्राणादि लीन हो जाते हैं। तब ब्रह्मज्ञानी के प्राण उत्क्रमण (निकलकर कहीं अन्यत्र) नहीं जाते हैं। अविद्या एवं उसके कोई संस्कार शेष नहीं रहते, तथा सम्पूर्ण भेदभाव नष्ट होकर ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार इस जीवन्मुक्त की बुद्ध्यादि उपाधि विलीन हो जाती है तब घटादि उपाधि से रहित आकाश के समान उसकी 'मुक्त' यह औपाचारिक संज्ञा हो जाती है। वास्तव में न वह आत्मा बद्ध है न मुक्त है।

कहा भी है—

"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न तत्त्वतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥"

उपाधि के लीन होने पर जीवन्मुक्त का सूक्ष्मशरीर अत्यन्त प्रतप्त लोहे पर गिरे जल-कण के समान प्रत्यगभिन्न परमात्मा में ही विलीन हो जाता है। अतः उसका स्थूलशरीर पुनः कोई कार्य नहीं करता। इस प्रकार उसका वर्तमान शरीर तो नष्ट ही हो जाता है, और भावी देह के बन्धनों से भी वह विशेष रूप से मुक्त हो जाता है। श्रुतियाँ भी इसी बात को कहती हैं।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'—(बृ० उ० ४।४।६)

'अत्रैव समवलीयन्ते'—(बृ० उ० ३।२।११)

'विमुक्तश्च विमुच्यते'—(कठ० उ० २।२।१)।

उस जीवन्मुक्त (ब्रह्मज्ञानी) के प्राण उत्क्रमण (अन्यत्र कहीं निकलकर) नहीं करते (नहीं जाते) वे इस परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं, अविद्या के बन्धन से मुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त, विमुक्त (विदेह, मुक्त) हो जाता है ॥ ४२ ॥

व्युत्पत्ति—इच्छाऽनिच्छा-परेच्छाप्रापितानि—प्रारब्ध भोग के तीन प्रकार हैं—कभी स्वेच्छा से भोग प्राप्त होता है, कभी अनिच्छा से भोग प्राप्त होता है, कभी परेच्छा से भोग प्राप्त होता है।

डॉ श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर विरचित

'वेदान्तसार' की 'विमला' हिन्दी व्याख्या समाप्त।

AHAM BRAHMASMI
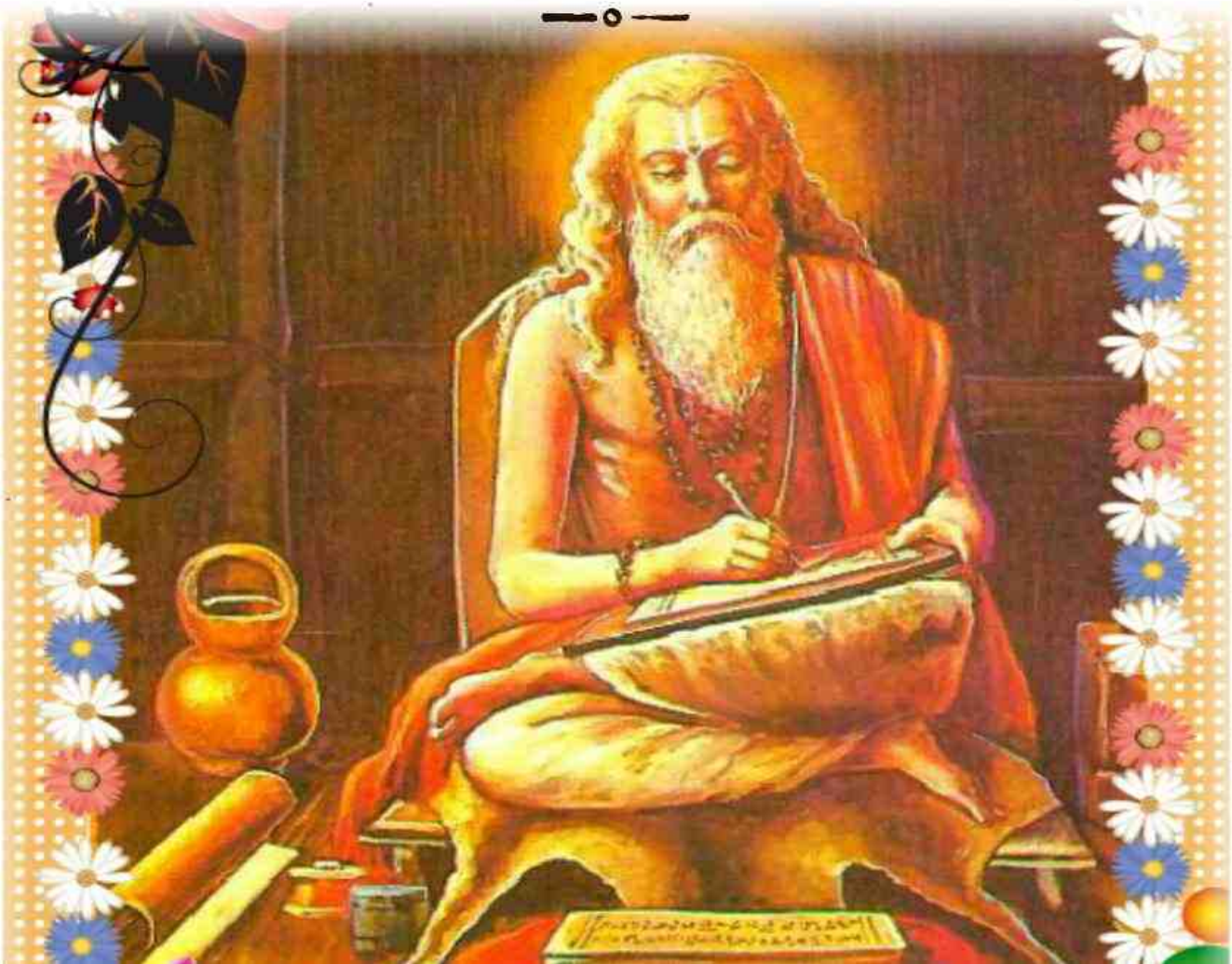
—o—